BIHAR YOGA

योगदृष्टि शृंखला

शिष्य धर्म

स्वामी निरंजनानन्द सरस्वती



योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट, मुंगेर, बिहार, भारत

शिष्य धर्म

ॐ, प्रेम, मंगलम्

शिष्य धर्म

स्वामी निरंजनानन्द सरस्वती

विश्व योगपीठ, गंगादर्शन, मुंगेर में 5 से 8 अगस्त 2010
तक आयोजित योग दृष्टि सत्संग श्रृंखला के दौरान दिये गये प्रवचन



योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट, मुंगेर, बिहार, भारत

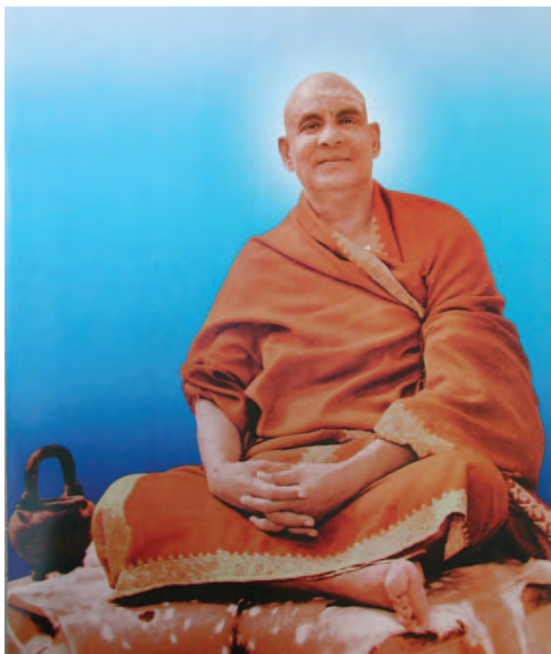
योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट द्वारा

प्रथम प्रकाशन 2011
पुनर्मुद्रण 2012
पुनर्मुद्रण 2018

ISBN: 978-81-86336-96-0

प्रकाशक एवं वितरक—योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट,
मुंगेर, बिहार, भारत
मुद्रक—एजीएन ऑफसेट प्रिंटर्स,
ग्रेटर नोएडा

वेबसाइट: www.biharyoga.net



सविनय समर्पण

स्वामी शिवानन्द सरस्वती के चरणों में
जिन्होंने स्वामी सत्यानन्द सरस्वती को योग के रहस्यों की शिक्षा दी



नमो नारायण

योगविद्या भारतवर्ष की सबसे प्राचीन संस्कृति और जीवन-पद्धति है तथा इसी विद्या के बल पर भारतवासी प्राचीनकाल में सुखी, समृद्ध और स्वस्थ जीवन बिताते थे। जब से भारत में योग विद्या का ह्रास हुआ, तभी से भारतवासी गरीब, दुःखी और अस्वस्थ हैं। पूजा-पाठ, धर्म-कर्म से शान्ति मिलती है और योगाभ्यास से धन-धान्य, समृद्धि और स्वास्थ्य। भारत में सुख, समृद्धि, शक्ति और स्वास्थ्य के लिए हर व्यक्ति को योगाभ्यास करना चाहिए।

स्वामी सत्यानन्द सरस्वती
रिखियापीठ, 2005

विषय सूची

गुरु तत्त्व

5 अगस्त 2010

जुलाई 2010 में गंगा दर्शन में एक महत्त्वपूर्ण घटना घटी। 25 जुलाई को गुरु पूर्णिमा का पावन पर्व था। गुरु पूर्णिमा कार्यक्रम में भाग लेने मुझे रिखियापीठ जाना था। रिखियापीठ जाने से पहले, 15 जुलाई, गुरुवार के दिन आश्रम-परम्परा के अनुसार हम लोगों ने गुरुपीठ में गुरु-पूजा सम्पन्न की। गुरुपीठ गंगा दर्शन में हमारे गुरु, श्री स्वामी सत्यानन्द जी को समर्पित एक छोटा-सा स्मारक है। वहाँ पूजा से पहले मैंने एक छोटा दीपक जलाया, जो ज्यादा-से-ज्यादा तीन-चार घण्टे तक जलता है। पूजा सम्पन्न करके मैं रिखिया के लिए रवाना हो गया।

गुरुपीठ गंगा दर्शन परिसर में एकदम एकांत स्थान पर है। सामान्य रूप से आश्रमवासियों को भी वहाँ जाने की अनुमति नहीं है। केवल वही लोग वहाँ जाते हैं जिन्हें उस जगह की देखभाल और सफाई के लिए नियुक्त किया गया है। वे भी अपना निर्धारित काम करके तुरन्त वहाँ से चले आते हैं। अगले दिन, यानि 16 तारीख की सुबह मुझे खबर मिली कि दीपक की ज्योति अभी तक जल रही है। मैंने इस बात पर ज्यादा ध्यान नहीं दिया, सोचा कि कई बार ऐसा हो जाता है, दीपक काफी देर तक जलता रहता है। 17 तारीख को वैसी ही खबर मिली, ज्योति अब तक जल रही है। मुझे लगा किसी ने बाती बदल दी होगी, थोड़ा और तेल डाल दिया होगा। 18 तारीख को भी वही खबर–ज्योति जल रही है। 19 तारीख को भी–ज्योति अभी तक जल रही है। 20 तारीख को भी–ज्योति जल रही है। मैंने गुरुपीठ के प्रभारी से पूछा, 'दीपक क्यों जलाये जा रहे हो? तुम्हें मालूम नहीं कि दीपक सिर्फ गुरु-पूजा के दिन जलाया जाता है, हर रोज नहीं।' प्रभारी ने जवाब दिया,



'मैंने कुछ नहीं किया। न तेल डाला, न बाती बदली।' बिना किसी देखरेख के ज्योति निरंतर जल रही थी। तब मुझे एकाएक लगा कि वह ज्योति 25 तारीख, यानि गुरु पूर्णिमा के दिन तक जलती रहेगी। और वास्तव में ऐसा हुआ भी, दीपक 25 तारीख तो क्या, उसके बाद भी जलता रहा।

26 तारीख को मैं गंगा दर्शन वापस आया। भगवान शिव के प्रिय श्रावण मास का पहला दिन था, ऊपर से सोमवार भी। मैं गुरुपीठ के दर्शन के लिए गया, ज्योति तब भी जल रही थी। 27 तारीख की सुबह ज्योति अन्ततः बुझी। इस तरह 15 से 26 तारीख तक ज्योति निरंतर जलती रही, बिना बाती बदले और बिना तेल की एक बूँद डाले। जब कमरा बंद कर दिया जाता था, खिड़की-दरवाजे सब बंद रहते थे, कहीं से हवा का झोंका अंदर नहीं आ सकता था, उस समय दीपक की लौ हिलती रहती थी, जैसे कोई अंदर कमरे

में घूम रहा हो और उसकी हलचल से दीपक की लौ झूम रही हो। सभी ने कहा कि गुरु जी की उपस्थिति का संकेत और आभास यहाँ पर हम लोगों को उस ज्योति के रूप में प्राप्त हुआ है कि उनकी उपस्थिति यहाँ पर बनी है।

मैं जब लोगों से इस घटना की चर्चा करता हूँ तो वे कहते हैं कि यह एक चमत्कार है, गुरु-कृपा का प्रत्यक्ष प्रमाण है। वे इसे एक आश्चर्यजनक घटना बतलाते हैं। मैं लोगों की बातें सुनकर मन-ही-मन सोचता हूँ, 'क्या सचमुच यह एक चमत्कार है, गुरु-कृपा है, एक आश्चर्यजनक घटना है?

जीवन में बहुत से ऐसे आभास और अनुभव हुए हैं जिनमें गुरु शक्ति का बोध हुआ है। गुरु अव्यक्त रूप में हैं, अशरीरी हैं, सर्वत्र विद्यमान हैं, वर्तमान में यहाँ पर उपस्थित हैं, इतना तो हम जानते थे। दर्शन और सिद्धांत भी यही कहते हैं। लेकिन वह कौन-सी शक्ति है जिसके कारण दीपक बिना तेल डाले या बाती बदले ग्यारह दिनों तक निरंतर जलता रहा? इसके पीछे क्या कारण, क्या रहस्य है?

आभास हुआ कि गुरु शक्ति सर्वशक्तिमान् है और अगर वह शक्ति अपने आप को प्रकट करना चाहे, तो जिस रूप में भी चाहे प्रकट कर सकती है। अपने आप को प्रकट करने के लिए ईश्वरीय तत्त्व या गुरु तत्त्व प्राय: एक पदार्थ को माध्यम बनाता है, ताकि व्यक्ति उसको ग्रहण कर सके।

ईसाई मत में पैगम्बर मूसा की कहानी आती है। कहते हैं कि सिनाई पर्वत पर उनको भगवान का दर्शन जलती झाड़ी में हुआ। झाड़ी से आग की लपटें निकल रही हैं, लेकिन वह भस्म नहीं हो रही है, काली नहीं पड़ रही है। उस झाड़ी में अग्नि प्रज्वलित है, पर फिर भी वह हरी-भरी है। ईश्वर की शक्ति ने अपने आप को मूसा के समक्ष इसी रूप में प्रकट किया।

मैं मूसा के प्रसंग की तुलना इस घटना से नहीं कर रहा हूँ, केवल उस शक्ति का संकेत दे रहा हूँ जिसके बूते पर दीपक निरंतर जलता रहा। बाती में ज्योति प्रज्वलित है, लेकिन वह जलकर नष्ट नहीं हो रही है। झाड़ी में अग्नि प्रज्वलित है, लेकिन वह सही-सलामत है। आखिर इसके पीछे कौन-सी शक्ति, कौन-सा तत्त्व है?

यह छठा तत्त्व है, जो पंच-तत्त्वों के परे है। इस तत्त्व का नाम है, आत्म तत्त्व। हम लोग सामान्यतया पंच-तत्त्वों की चर्चा करते हैं–पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश, लेकिन उनके परे आत्म तत्त्व है, जो पाँचों भौतिक तत्त्वों में निहित है, उनका आधार है।

गुरु तत्त्व

हमारा शरीर पंच-तत्त्वों से निर्मित है और इस भौतिक शरीर में आत्म तत्त्व सूक्ष्म रूप से विद्यमान है, भले ही हम उसके प्रति सजग न हों। इन्द्रियों के माध्यम से हमें पाँच भौतिक तत्त्वों का तो अनुभव होता है, पर आत्म तत्त्व का नहीं, क्योंकि वह सूक्ष्म है, अतीन्द्रिय है। उस आत्मा को हम छठे तत्त्व के रूप में पहचान नहीं पाते, क्योंकि वह पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु या आकाश से नहीं बना है। वह आत्मा जीवन का, ज्ञान का आधार है। वह परमात्मा का ही एक अंश है। ईशावास्य उपनिषद् में शांति मंत्र आता है–

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

अर्थात् यह भी पूर्ण है, वह भी पूर्ण है। पूर्ण से एक भाग अगर निकाल दो, तो जो भाग तुमने निकाला है वह भी पूर्ण है और जो शेष है वह भी।

जीवन की पूर्णता ईश्वरत्व की अभिव्यक्ति है। ईश्वर पूर्ण है। ईश्वर का जो अंश आत्मा के रूप में निकलकर प्रत्येक प्राणी में निहित है, वह भी पूर्ण है–*ईस्वर अंस जीव अबिनासी*। यही आत्मा वास्तव में छठा तत्त्व है, जिसे गुरु तत्त्व की संज्ञा भी दी जाती है। क्यों?

परमात्मा असीम, अप्रमेय और निराकार है। एक असीम तत्त्व को सीमित मन द्वारा, एक अप्रमेय तत्त्व को स्थूल इन्द्रियों द्वारा ग्रहण नहीं किया जा सकता। लेकिन उसकी शक्ति का अनुभव अवश्य किया जा सकता है। उस ईश्वरीय शक्ति की हमारे जीवन में एक निश्चित भूमिका है। वह भूमिका, वह प्रयोजन क्या है? केवल एक प्रयोजन है–हमारे जीवन के अंधकार को दूर करना।

जैसे-जैसे हम अंधकार, अविद्या, अहंकार और अस्मिता की परतें हटाते जाते हैं, वैसे-वैसे आत्मा का प्रकाश प्रबल होता जाता है और जीवन के हर स्तर पर हमारा विकास होता है। शारीरिक स्तर पर अधिक संतुलन आता है, मानसिक और भावनात्मक स्तर पर अधिक परिपक्वता आती है, और आध्यात्मिक स्तर पर अधिकाधिक आन्तरिक जागृति आती है। सब कुछ एक साथ आगे बढ़ता है, विकसित होता है।

ईश्वर को प्रायः व्यष्टि और समष्टि के नियंता के रूप में पारिभाषित किया जाता है। यह विचार, यह अवधारणा अपनी जगह ठीक है, लेकिन

अहम बात यह है कि असीम और अव्यक्त होने के साथ-साथ ईश्वर सीमित और दृष्टिगोचर भी है। प्रकृति के आयाम में उस परा शक्ति का अनुभव हमें आत्मा के रूप में होता है, जबकि अव्यक्त, सूक्ष्म आयाम में हम उस शक्ति को ब्रह्माण्डीय आत्मा के रूप में अनुभव करते हैं। ब्रह्माण्डीय आत्मा परमात्मा कहलाती है और सीमित आत्मा जीवात्मा।

परमात्मा असीम और स्वतंत्र है, जबकि जीवात्मा सीमित है, बन्धन में है। लेकिन यह बन्धन केवल बहिर्मुखी मन और इन्द्रियों का है। यह बन्धन बाह्य है, आन्तरिक नहीं। यह केवल इन्द्रियों तथा मन, बुद्धि और चित्त की कामनाओं और आकांक्षाओं से सम्बन्धित है। यह बहिर्मुखी मन ही हमारे शारीरिक, मानसिक, भावनात्मक और बौद्धिक स्तरों का निर्धारण करता है। बहिर्मुखी मन की वजह से ही इन्द्रिय-विषयों के साथ हमारा निरन्तर व्यापार लगा रहता है। ऐसी स्थिति में आत्मा की विमुक्त अवस्था का अनुभव नहीं किया जा सकता। जीवन में हमारी भूमिका, हमारे अनुभव सीमित रहते हैं। मैं और मेरा परिवार, सुख-दुःख, सफलता-विफलता, धन-सम्पत्ति और ऐशो-आराम–जीवन इन्हीं विचारों के इर्द-गिर्द घूमता रहता है।

इन्द्रियाँ मन की अभिव्यक्ति को सीमित कर देती हैं, बन्धन में जकड़ देती हैं। अपने व्यक्तित्व पर पड़े पर्दों को क्रमशः हटाते जाना है ताकि मन पर इन्द्रियों का असर कम होता जाए तथा मन शांत और उज्ज्वल होता जाए। हम अपने मन पर चिन्ताओं, तनावों, परनिन्दा और अन्य नकारात्मकताओं के जो पर्दे डालते जाते हैं, उनसे हमारा मन और अधिक मूढ़, प्रमादी और विषादग्रस्त बनता जाता है और अपनी स्पष्टता खो बैठता है।

आत्मा मन के परे है। और परमात्मा अपने में पूर्ण है। उसी परमात्मा रूपी अग्नि की छोटी-सी चिंगारी यह जीवात्मा है, जो इस शरीर में आकर सत्तर-अस्सी साल तक जलती रहती है। यही चिंगारी गुरु तत्त्व है, जो पूर्ण से अलग होकर भी पूर्णता का आभास कराती है। गुरु तत्त्व सर्वशक्तिमान् है, जो अपने आप को जिस रूप में चाहे प्रकट कर सकता है। जब यह तत्त्व अपने आपको इस उद्देश्य से प्रकट करना चाहता है कि साधारण-से-साधारण व्यक्ति भी उसको ग्रहण कर सके, तब वह किसी पदार्थ को अपना माध्यम बनाता है। पैगम्बर मूसा के जीवन में जलती झाड़ी ईश्वर के प्रतीक के रूप में दिखलायी दी और यहाँ गंगा दर्शन में हमने गुरु शक्ति को ज्योति के रूप में देखा, जो लगातार ग्यारह दिनों तक जलती रही। उस तत्त्व ने यह

बतलाने के लिए एक छोटे-से दीपक को अपना माध्यम बनाया कि ज्योति तेल या बाती से नहीं, बल्कि एक विशेष शक्ति से जलती है।

गुरु कोई व्यक्ति नहीं, बल्कि एक ऊर्जा, एक शक्ति है। ईसाई मत में कहा जाता है कि येशु में दिव्य चेतना अवतरित हुई थी। इसका तात्पर्य यह कि उनके मन में एक उच्च चेतना का स्फुरण हुआ और येशु एक मामूली बढ़ई के बेटे से मसीहा बन गए। जब गुरु तत्त्व जागता है, दिव्य चेतना का अवतरण होता है, तब मनुष्य सिद्ध पुरुष बन जाता है।

चेतना के अवतरण का यह मतलब नहीं कि कोई चीज ऊपर से तुम्हारे भीतर उतर रही है। देखा जाए तो यह मानवीय चेतना का उत्थान है, जिससे आत्मा की शाश्वत सत्ता का बोध होता है और व्यक्ति प्रबुद्ध और ज्ञानी बन जाता है।

परमात्मा पूर्ण है, इसलिए आत्म-स्वरूप गुरु तत्त्व भी पूर्ण है। और जिनमें यह गुरु तत्त्व जागृत हो जाता है, वे लोग देहधारी गुरु बन जाते हैं। ईशावास्य उपनिषद् का शांति मंत्र एक ओर तो उस ईश्वर का संकेत दे रहा है जो अव्यक्त, अनादि और अनंत है, और साथ ही उस गुरु का भी संकेत दे रहा है जो प्रकट और दृष्टिगोचर है तथा ईश्वर की तरह ही अपने आप में पूर्ण है।

जीवन की दो धाराएँ – अर्थ और काम

इस धरती पर अनेक सभ्यताएँ आईं और चली गईं। प्राचीन और अर्वाचीन सामाजिक परिवेशों के अध्ययन से हम पाएँगे कि अधिकतर सभ्यताओं ने अपने सामाजिक जीवन में दो ही चीजों पर ध्यान दिया–शिक्षा और व्यवसाय।

जीवन के प्रारम्भिक काल में तुम अपने आप को शिक्षित करते हो, शिक्षित हो जाने के बाद कोई पेशा या व्यवसाय अपनाते हो और जीवनभर उसी में रत रहते हो। अगर डॉक्टर बनना चाहते हो तो उसके अनुरूप शिक्षा ग्रहण करते हो, एम. बी. बी. एस. डिग्री प्राप्त करते हो। फिर एक डॉक्टर के रूप में काम शुरू कर देते हो। जीवन-पर्यन्त तुम्हारी वही पहचान रहती है। बूढ़े हो जाने पर भी लोग तुम्हें डॉक्टर साहब ही कहेंगे। तुम्हारे देहान्त के बाद लोग यही कहेंगे कि डॉक्टर साहब चल बसे। इस तरह शिक्षा और व्यवसाय ही जीवन के मुख्य पुरुषार्थ रहते हैं। केवल भारत में नहीं, दुनियाभर में।

हमारी परम्परा में इन पुरुषार्थों को अर्थ और काम की संज्ञा दी गई है। तुम्हारी कुछ बनने की कामना है, इसलिए तुम शिक्षा ग्रहण करते हो। परिश्रम



और पुरुषार्थ करके तुम अपने वांछित व्यवसाय के लिए आवश्यक योग्यताएँ अर्जित करते हो। इसी को काम पुरुषार्थ कहते हैं, एक कामना की पूर्ति के लिए किया गया पुरुषार्थ। तुम अपने जीवन की किसी कामना को पूरा करने का प्रयास कर रहे हो, चाहे वह डॉक्टर बनने की कामना हो या इंजीनियर, वैज्ञानिक, गायक, नर्तक अथवा संन्यासी बनने की कामना। तुम्हारा व्यवसाय तुम्हारी शिक्षा का व्यावहारिक स्वरूप है। तुमने जो कुछ सीखा उसे तुमने अपने व्यवसाय में व्यावहारिक रूप देना शुरू किया। शुरू में तुम नौसिखिये थे, तुम्हें ज्यादा जानकारी नहीं थी, तुम कॉलेज से अभी-अभी निकले थे। लेकिन अपने ज्ञान को उपयोग में लाकर, अपनी विद्या को व्यावहारिक रूप देकर धीरे-धीरे तुमने अपने पेशे में महारत हासिल की। और वह अर्थार्जन का, अपने जीवन में सम्पत्ति और समृद्धि लाने का माध्यम बन गया।

आदिकाल से दुनियाभर में समाज ने काम और अर्थ का ही अनुसरण किया है। जो भी विचार या दर्शन किसी अन्य मान्यता के प्रतिपादन का प्रयास करते, उन्हें दबा दिया जाता, नकार दिया जाता था। पहले लोग सोचा करते थे कि धरती सपाट है और जब कॉपरनिकस ने कहा कि पृथ्वी गोल है

तब सभी ने उसे पागल समझा। पहले लोग मानते थे कि सूर्य पृथ्वी के चारों ओर घूमता है, लेकिन गैलिलियो ने कहा कि सूर्य अपनी जगह स्थिर है, पृथ्वी ही सूर्य की परिक्रमा करती है।

ये उदाहरण मैं यह बतलाने के लिए दे रहा हूँ कि समाजों की संरचना प्रायः रूढ़िवादी मान्यताओं पर आधारित होती थी। जो कोई उन मान्यताओं को चुनौती देता या एक नई विचारधारा प्रस्तुत करता, उसे खतरा समझा जाता और उसका मुँह बंद करने का प्रयास किया जाता। यही हाल आध्यात्मिक विचारधाराओं का हुआ। आत्मा को न तो देखा जा सकता है, न अन्य किसी तरीके से उसका प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त किया जा सकता है और न ही उससे कोई मुनाफा कमाया जा सकता है। इसलिए आध्यात्मिक परम्पराओं और विचारधाराओं को सदा दबाया जाता रहा।

अधिकतर समाज इस मान्यता पर आधारित थे कि हमारा अस्तित्व इस संसार में हमारे जीवन काल तक ही सीमित है। इसलिए हमारा ध्येय एक सुखी, आरामदायक जीवन जीना होना चाहिए। हमारी जितनी इच्छाएँ हों, उन्हें पूरा करने का प्रयास करना चाहिए। यही कारण है कि शिक्षा और व्यवसाय समाज के प्रमुख पुरुषार्थ बन गए। लेकिन भारत में ऋषियों और मनीषियों ने कहा कि काम और अर्थ के साथ अपने जीवन में दो अन्य पुरुषार्थों का समावेश करो। ये पुरुषार्थ हैं, धर्म और मोक्ष। उन्होंने इस बात पर जोर दिया कि इन चार पुरुषार्थों के समन्वय से ही मानव जीवन पूर्णता को प्राप्त होता है।

धर्म और मोक्ष का पथ प्रदर्शक

धर्म का तात्पर्य जीवन में सद्‌गुणों को धारण करने से है। प्रत्येक परिस्थिति में न्यायोचित मार्ग ढूँढ निकालना और उस पर चलना धर्म पुरुषार्थ है। और मोक्ष का अर्थ है जीवन के दुःख-तकलीफों से मुक्ति। इस तरह ऋषियों ने इस देश के समाज को आगे बढ़ने के लिए दो अतिरिक्त मार्ग बतलाए। धर्म और मोक्ष के पथ प्रदर्शक गुरु कहलाए, जबकि अर्थ और काम के प्रतिपादक शिक्षक कहलाए। इस बिन्दु को समझना बहुत जरूरी है।

मंच पर बैठकर सुन्दर व्याख्यान देने से कोई गुरु नहीं बन जाता। गुरु तत्त्व की भूमिका अलग है। शिक्षक का दायित्व तुम्हें समाज में जीविका चलाने योग्य बनाने तक सीमित है, जबकि गुरु का प्रयोजन तुम्हें धर्म और

मोक्ष के मार्ग पर ले जाना है। जिस तरह कोई डॉक्टर इंजीनियर का काम नहीं कर सकता है, उसी तरह शिक्षक भी गुरु नहीं हो सकता। दोनों की भूमिकाएँ और कार्यक्षेत्र अलग हैं।

गुरु शब्द का प्रयोग धर्म और मोक्ष के सन्दर्भ में ही किया जाना चाहिए। धर्म का अर्थ क्या है? गुरु धर्म की शिक्षा क्यों देता है? धर्म को आजकल मजहब, पंथ या सम्प्रदाय के रूप में समझा जाता है, मगर वास्तव में इसका यह अर्थ नहीं। धर्म का तात्पर्य उस आदर्श कर्त्तव्य, उस शाश्वत दायित्व से है जिसे निभाना हमारा फर्ज है। शास्त्रों मे कहा गया है, *धारयति इति धर्मः*, जिन सद्गुणों को तुम स्वाभाविक रूप से अपने जीवन में धारण और अभिव्यक्त करते हो, वही धर्म कहलाता है।

धर्म को तीन दृष्टिकोणों से देखा गया है। धर्म का पहला आयाम है ज्ञान और विवेक–यह सोचना, समझना और जानना कि क्या सही है और क्या गलत, क्या उचित है और क्या अनुचित, क्या अच्छा है और क्या बुरा, क्या न्याय है और क्या अन्याय। गहन समझ और ज्ञान विकसित करना धर्म का पहला चरण है। इस ज्ञान से तुम्हारे अन्दर उचित-अनुचित को पहचानने का विवेक जागना चाहिए ताकि अनुचित चीजों को जीवन से हटाया जा सके। सद्गुणों का विकास और दुर्गुणों का निमूर्लन, यही धर्म का प्राथमिक अंग है।

धर्म के प्राथमिक अंग को सिद्ध करने के लिए इसके दूसरे अंग की आवश्यकता महसूस हुई, और वह उपासना कहलाया। मंत्र, ध्यान, अनुष्ठान–इस तरह के सभी व्यक्तिगत प्रयास उपासना के अंग हैं। तत्पश्चात् कर्म-काण्ड उपासना के अंग बने, ताकि प्रचलित सामाजिक परम्पराओं और मर्यादाओं को बनाए रखते हुए भी पूरे समाज पर एक सकारात्मक प्रभाव डाला जा सके। ये कर्म-काण्ड धर्म का तीसरा अंग हैं।

धर्म का पहला स्तर है ज्ञान का उपार्जन और इस हेतु गुरु अनिवार्य होता है। हम ज्ञान कैसे प्राप्त कर सकते हैं? हमारे पास तो आवश्यक योग्यताएँ ही नहीं हैं। अगर हम ढेर सारे ग्रन्थ भी पढ़ लें, तो भी हमें उनका वास्तविक अर्थ और प्रयोजन समझ में नहीं आएगा। अपने भीतर समझदारी, ज्ञान और विवेक विकसित करने के लिए गुरु की आवश्यकता पड़ती है।

मोक्ष की प्राप्ति के लिए भी गुरु अनिवार्य है। मोक्ष का मतलब सिर्फ निर्वाण या मुक्ति नहीं। यह तो मोक्ष की अंतिम परिभाषा है। प्रारम्भ में मोक्ष

का अर्थ होता है अपने जीवन के दु:खों, क्लेशों, तनावों और संघर्षों से ऊपर उठना। जिस क्षण तुम जीवन के तनावों और परेशानियों से नाता तोड़ने और अपने अंदर शांति और आनन्द खोजने का निश्चय करते हो, तुम मोक्ष-मार्ग पर अग्रसर हो जाते हो। निम्न मन का रूपान्तरण और उच्च मानसिकता की प्राप्ति ही मोक्ष है। मोक्ष की अवस्था में हम इन्द्रिय-विषयों के बन्धनों और सामाजिक परिवेशों की सीमाओं से मुक्त हो जाते हैं। इसलिए इस बात को जान लो कि जो तुम्हें समाज में जीने लायक हुनर सिखाते हैं वे शिक्षक, लेक्चरर, ट्यूटर या प्रोफेसर की श्रेणी में आते हैं। वे तुम्हें सिर्फ काम और अर्थ सिद्ध करने की कलाएँ सिखाते हैं। लेकिन धर्म और मोक्ष की विद्या सिखाने वाले केवल गुरुजन होते हैं।

सद्‌गुरु

ईश्वर को सच्चिदानन्द की संज्ञा भी दी जाती है, क्योंकि वह सत्, चित् और आनन्द से परिपूर्ण है। 'सत्' निराकार रूप में ईश्वर है और साकार रूप में



हमारे भीतर गुरु तत्त्व है। इसलिए जो ईश्वरीय तत्त्व तुम्हारे भीतर है, उसी को सदगुरु कहते हैं। बाहर का आदमी सद्‌गुरु नहीं होता, बल्कि ईश्वर की उपस्थिति, उसकी अनुभूति हर मनुष्य के जीवन में सदगुरु की अनुभूति होती है, क्योंकि उसी की कृपा से सत्य से, स्थायित्व से हमारा नाता जुड़ता है और जीवन के अंधकार में प्रकाश आता है। इसलिए भारतीय संस्कृति में सद्‌गुरु ईश्वर को ही माना गया है, मनुष्य को नहीं। सद्‌गुरु की यह पहली परिभाषा हुई।

सद्‌गुरु की एक अन्य परिभाषा भी है। किसी परम्परा के प्रणेता, जैसे, स्वामी शिवानन्द जी को भी

सद्गुरु कहा जाता है। हमारे गुरु जी ने स्वामी शिवानन्द जी द्वारा निर्देशित मार्ग का अनुसरण किया। और हम अपने गुरु द्वारा निर्दिष्ट जिस पथ पर आगे बढ़ रहे हैं, वह भी स्वामी शिवानन्द जी का ही मार्ग है। हम उन्हीं की शिक्षाओं को आत्मसात् करने का प्रयास कर रहे हैं। इसलिए वे हमारी परम्परा के प्रणेता हुए, सद्गुरु हुए।

जिस तरह प्रत्येक व्यक्ति में ईश्वर सद्गुरु के रूप में विद्यमान होते हैं, उसी तरह बाह्य जीवन में किसी परम्परा के संस्थापक को, जिसका भावी पीढ़ियाँ अनुसरण करती हैं, सद्गुरु कहते हैं।

नियति का निर्णय

जब हम अपने गुरु, स्वामी सत्यानन्द जी का जीवन देखते हैं तो पाते हैं कि उनका जीवन हमेशा निर्देशित रहा। उन्होंने एक निर्दिष्ट मार्ग, एक नियत पथ का अनुसरण किया। कोई अपनी मर्जी से गुरु नहीं बनता, नियति ही उसे गुरु पद पर प्रतिष्ठित करती है।

मान लो हम लोग किसी गुरु की शरण में जाते हैं और उनके सान्निध्य में रहकर प्रशिक्षित होते हैं। कालान्तर में वे गुरु अपनी देह त्याग देते हैं। तब क्या सभी शिष्य गुरु बन जाएँगे? नहीं। 'मैं गुरु हूँ', ऐसी घोषणा करके कोई गुरु नहीं बन सकता। जो ऐसा करते हैं, वे समाज में सबसे बड़े धोखेबाज होते हैं। गुरुजन तो विशेष, चयनित व्यक्ति होते हैं, जिनका चयन स्वयं नियति करती है। ऐसे व्यक्तियों का एक विशिष्ट प्रारब्ध, विशेष संस्कार और कर्म रहते हैं, एक पूर्वनियोजित लक्ष्य और मिशन रहता है। उस विशिष्ट प्रारब्ध की वजह से न तो परिवार उन्हें रोक सकता है, न ही समाज।

तुम लोगों ने आदि शंकराचार्य की कहानी जरूर सुनी होगी। वे आठ साल की अवस्था में संन्यासी बन गए। उनकी माता ने उनसे अनुरोध किया था कि वे घर पर ही रहकर शिक्षा ग्रहण करें और कोई व्यवसाय करें। लेकिन उन्होंने सभी अनुरोधों को ठुकरा दिया। माँ का ममतामय प्यार उन्हें रोक न सका। समाज की मान्यताएँ उन्हें रोक न सकीं। संन्यास के नियम उन्हें रोक नहीं सके। उन्हें आठ वर्ष की अवस्था में संन्यास दीक्षा मिली। यह उनकी मर्जी थी या नियति?

रमण महर्षि की अवस्था भी आठ ही साल की थी जब उन्हें कुछ रुपये देकर सब्जियाँ लाने बाजार भेजा गया। वे बाजार नहीं गए, बल्कि सीधे रेलवे



स्टेशन पहुँचे, ट्रेन में बैठे, अरुणाचल पर्वत के समीप उतरे और फिर कभी नहीं लौटे। यह उनका चुनाव था या प्रारब्ध?

स्वामी शिवानन्द जी मलाया में डॉक्टर थे। वहाँ उन्होंने खूब नाम-यश और धन-सम्पत्ति अर्जित की। लेकिन आध्यात्मिक जीवन की पुकार इतनी प्रबल थी कि उन्होंने अपनी सारी सम्पत्ति दान में दे दी और चेन्नई लौट आए। वे अपने घर तक नहीं गए, बल्कि अपना सामान एक मित्र को सौंपकर किसी ट्रेन में बैठे और अंततः हिमालय के उत्तुंग शिखरों तक जा पहुँचे। यह उनका निर्णय था या नियति का?

स्वामी सत्यानन्द जी को छः वर्ष की अवस्था से उच्च आध्यात्मिक अनुभव होने लगे। उनका परिवार या समाज उन्हें गृह-त्याग से रोक नहीं पाया। यह उनकी नियति थी या मर्जी? ऐसे अनेक महापुरुष हुए हैं जो अध्यात्म की ओर इसलिए प्रवृत्त हुए कि उनके पास कोई विकल्प नहीं था। उनका मार्ग, उनका गन्तव्य, सब पूर्वनियोजित था।

तुम लोग अपनी नियति की वजह से नहीं, अपनी मर्जी से यहाँ आए हो। तुमने खुद यहाँ आने का निर्णय लिया। तुम्हारे जीवन में कोई विवशता नहीं थी। तुम्हें यह जगह, यहाँ के लोग, यहाँ की जीवनशैली पसन्द आ

गई, इसलिए तुमने यहाँ रहने का फैसला कर लिया। तुम यहाँ जब तक रहना चाहो रह सकते हो, चाहे एक साल, बारह साल या बीस साल। अगर तुम्हारा जाने को जी करे, तुम जा भी सकते हो। ऐसा मानसिक उतार-चढ़ाव इस बात का संकेत करता है कि यह जीवनशैली तुम्हारी नियति नहीं, तुम्हारी पसन्द मात्र है।

यहाँ नजदीक के एक शहर में एक परिवार रहता है जो प्रारम्भ से आश्रम के साथ जुड़ा है। हम इस परिवार की तीन पीढ़ियों से परिचित हैं। वे यहाँ अक्सर आते हैं, हर कार्यक्रम में भाग लेते हैं, उनकी श्रद्धा और समर्पण में किसी प्रकार की कमी नहीं है। एक दिन उनके लड़के ने घर छोड़कर संन्यास लेने का निर्णय लिया। वह यहाँ आया और बोला, 'स्वामीजी, मैं संन्यास लेकर आश्रम में रहना चाहता हूँ।' मैंने सहर्ष अनुमति दे दी। मैं उसके परिवार को बहुत अच्छे से जानता था, इसलिए मुझे कोई हिचक नहीं हुई। लड़का आश्रम में ही रहने लगा और आश्रम दिनचर्या का अनुसरण करने लगा। दस दिन बाद उसके माता-पिता आ पहुँचे। वे उस पर आग-बबूला थे, 'तू यहाँ क्यों आया? तुझे अच्छी तरह मालूम है हम लोग तेरी शादी की तैयारी कर रहे हैं। हमारे साथ अभी वापस चल, शादी-ब्याह कर और घर-दुकान सम्भाल।' उन्होंने उसे यहाँ रहने नहीं दिया। वे उसे जबरदस्ती घर ले गए और शादी के दिन तक उसे कमरे में बंद रखा। अब यह नियति है या मर्जी? उसकी मर्जी संन्यास लेने की थी, मगर संन्यास उसकी नियति में नहीं था। वह शादी नहीं करना चाहता था, लेकिन उसकी नियति में विवाह ही लिखा था।

यहाँ ऐसे अनेक लोग हैं, विशेषकर कम वय वाले, जो शादी करके घर बसाना चाहते हैं, लेकिन यह उनके भाग्य में नहीं है। कई संन्यासी ऐसे हैं जो यहाँ कुछ समय बिताने के बाद सोचते लगते हैं, 'न जाने वैवाहिक जीवन कैसा होगा! संन्यास जीवन का अनुभव तो हो गया है, अब जरा गृहस्थ जीवन भी आजमा कर देख लें!' यहाँ तक कि कुछ पूर्ण संन्यासियों ने भी मेरे पास आकर अनुरोध किया है, 'स्वामीजी, क्या आप हमें वापस कर्म संन्यास में पुनर्दीक्षित कर सकते हैं!'

गुरु विशेष प्रारब्ध वाले व्यक्ति होते हैं और जब उनके प्रारब्ध के साकार होने का समय आता है तब कोई भी व्यक्ति, वस्तु या घटना उनके मार्ग में बाधा नहीं बन सकती। संसार की माया और समाज के बन्धनों में इतनी ताकत नहीं होती कि उन्हें बाँध सकें। लेकिन जिनके भाग्य में आध्यात्मिक जीवन

नहीं होता, वे हमेशा किसी-न-किसी बहाने सांसारिक जीवन में खींच लिए जाते हैं। ऐसा मेरा अनुभव रहा है।

नियति ही दैवी कार्य के लिए किसी व्यक्ति को तैयार करती है और जब वह व्यक्ति तैयार हो जाता है तब उसके भीतर गुरु तत्त्व जागृत होता है। उस व्यक्ति को मालूम भी नहीं रहता, लेकिन गुरु तत्त्व की जो सुरभि होती है, प्रकाश होता है, वही दूसरों को आकृष्ट करता है और लोग उस व्यक्ति को गुरु रूप में देखते हैं। जिस व्यक्ति के भीतर गुरु तत्त्व प्रकाशित हो गया है, वह अपने आप को कभी गुरु रूप में नहीं, बल्कि हमेशा शिष्य रूप में ही देखेगा। अगर वह अपने आप को गुरु रूप में देखेगा, तो उसका अहंकार उसको मार देगा। तब भगवान भी उसे बचा नहीं पाएँगे। और एक सिद्ध भी यदि अपने आप को शिष्य रूप में देखे, तो उसे तुम चाहे कितना भी सिर पर उठाओ, उसका अहंकार कभी बढ़ेगा नहीं, क्योंकि वह नष्ट हो चुका है।

चार प्रकार के गुरु

हमारी परम्परा में गुरुओं को चार श्रेणियों में विभाजित किया गया है। पहली श्रेणी है विद्वान् गुरु की, दूसरी योगी गुरु की, तीसरी तांत्रिक गुरु की और चौथी ब्रह्मनिष्ठ गुरु की।

विद्वान् या ज्ञानी गुरु विषय के ज्ञाता होते हैं। उनकी विद्वत्ता से प्रभावित होकर लोग उनके पास आते हैं। जिस तरह विश्वविद्यालय में विज्ञान का प्रोफेसर मात्र विज्ञान की शिक्षा देता है, यह जरूरी नहीं कि वह स्वयं एक महान् वैज्ञानिक हो, उसी तरह यह आवश्यक नहीं कि विद्वान् या ज्ञानी गुरु स्वयं साधक, सिद्ध या आत्मज्ञानी भी हो। आईंस्टाइन का शिक्षक उनके स्तर का नहीं था। विद्वान् गुरु केवल बौद्धिक ज्ञान प्रदान कर सकता है, अनुभव नहीं, क्योंकि वह स्वयं साधना के मार्ग से नहीं गुजरा है। वह तुम्हें बतला सकता है कि क्या सही है और क्या गलत, लेकिन यह आवश्यक नहीं कि उसने इन शिक्षाओं को अपने जीवन में उतारा हो। प्राय: इस तरह के गुरु समाज में सम्माननीय और प्रतिष्ठित व्यक्ति होते हैं, जो व्याख्यान देते हैं, कक्षाओं और कार्यक्रमों का संचालन करते हैं, संगोष्ठियों और सम्मेलनों में भाग लेते हैं।

दूसरा होता है योगी गुरु। योगी गुरु का मतलब योग शिक्षक नहीं होता। तुम लोग योग शिक्षक हो, योगी गुरु नहीं। योग शिक्षक योग सिखाता है, लेकिन योगी गुरु योग को जीता है, उसने योग को आत्मसात् किया होता है।

योगी गुरु ने अपने जीवन में योग की सर्वोच्च अवस्था प्राप्त कर ली है। योग की सर्वोच्च अवस्था क्या है? महर्षि पतंजलि के अनुसार योग की सर्वोच्च अवस्था चित्तवृत्तियों का निरोध है– *योगश्चित्तवृत्तिनिरोध:*। जिसका मन चंचल नहीं, एकाग्र है, जो शांत और संतुलित है, जिसका अपनी मानसिक वृत्तियों पर, अपने आंतरिक व्यवहार पर पूरा नियंत्रण है, वही योगी गुरु है। वह सीखने और सिखाने, दोनों प्रक्रियाओं से एक साथ गुजर रहा है।

तीसरा है तांत्रिक गुरु। वह सिद्ध पुरुष है, जो अपने शरीर में ब्रह्माण्डीय ऊर्जा की प्रत्यक्ष अनुभूति और अभिव्यक्ति कर सकता है। जो अपने आप को परा शक्ति से संयुक्त कर सके, वही तांत्रिक गुरु है। उसने अपने भीतर इतनी ऊर्जा प्राप्त कर ली है कि किसी भी तत्त्व का आवाहन कर सकता है, अव्यक्त आयाम की किसी भी चीज को एक साकार रूप दे सकता है। शिव तत्त्व और शक्ति तत्त्व उसके अधीन रहते हैं।

चौथा गुरु है ब्रह्मनिष्ठ। ब्रह्मनिष्ठ गुरु बहुत कम होते हैं। उनमें ईश्वर की ऊर्जा पूर्ण रूप से जागृत रहती है। ब्रह्मनिष्ठ गुरु अवतार तो नहीं होते, लेकिन उनको तुम छोटा अवतार कह सकते हो, कनिष्ठ अवतार। ब्रह्मनिष्ठ गुरु का संसार से कोई लेन-देन नहीं रहता, उनकी वार्ता निरंतर परमात्मा के साथ होती रहती है। वे ईश्वर को अपने सामने साक्षात् देखते हैं, जैसे हम और आप एक-दूसरे को हमेशा देख सकते हैं। रामकृष्ण परमहंस और रमण महर्षि जैसे महापुरुष ब्रह्मनिष्ठ गुरु की श्रेणी में आते हैं।

स्वामी शिवानन्द जी भी ब्रह्मनिष्ठ गुरु थे। वे एक प्रबुद्ध, आत्म-ज्ञान सम्पन्न महापुरुष थे। उन्हें सब चीजों का ज्ञान था। एक बार मैंने श्री स्वामीजी से पूछा था, 'स्वामी शिवानन्द जी ने इतनी सारी किताबें लिखीं, अपनी किताबों में इतने सारे ग्रन्थों और शास्त्रों के अंश उद्धृत किए हैं। उन्हें यह सब पढ़ने का समय कहाँ से मिल जाता था? उनका तो सारा समय लिखने में ही चला जाता होगा।' श्री स्वामीजी ने कहा, 'नहीं, उन्होंने कभी कोई ग्रन्थ नहीं पढ़ा। लेकिन हर ग्रन्थ का नाम और उसकी विषय-वस्तु उनकी जिह्वा पर थी। जब वे लिखते थे, उनकी लिखाई में कहीं कोई काट-छाँट नहीं रहती थी। उसमें न तो कोई गलती रहती थी, न ही किसी अन्य संशोधन की आवश्यकता पड़ती थी। एक बार जो वे लिख देते थे, वह अंतिम माना जाता था। वे ऐसे स्तर के व्यक्ति थे जिनमें सारा ज्ञान स्वत: प्रस्फुटित होता था।' ब्रह्मनिष्ठ गुरु ऐसे ही होते हैं, जो बिना कुछ पढ़े-लिखे भी सब कुछ जानते हों।



स्वामी शिवानन्द जी ब्रह्मनिष्ठ गुरु थे तो श्री स्वामीजी तांत्रिक गुरु। वे ऊर्जाओं का विस्फोट और शक्तियों का आवाहन करने में समर्थ थे। अपनी उपस्थिति मात्र से वे अपने आस-पास के वातावरण का रूपान्तरण कर सकते थे। एक साधक के रूप में श्री स्वामीजी क्रमिक रूप से एक के बाद एक स्तर पार करते गए। प्रारम्भिक दिनों में जब वे योग का प्रचार-प्रसार कर रहे थे तब वे योगी गुरु थे। जब वे उच्च वैदिक साधनाओं में संलग्न हुए तब वे तांत्रिक गुरु बने। और सन् 2003 से वे ब्रह्मनिष्ठ गुरु हुए, क्योंकि उस समय वे अपने सभी कर्म बन्धनों से मुक्त हो गए।

गुरु की अवधारणा को समझने के लिए श्री स्वामीजी का जीवन उत्कृष्ट उदाहरण है। मैंने श्री स्वामीजी के जीवन और अपने गुरु, स्वामी शिवानन्द जी के साथ उनके सम्बन्ध को करीब से देखा है। अपने गुरु के प्रति उनमें कितनी श्रद्धा और समर्पण की भावना थी, इसे मैंने प्रत्यक्ष अनुभव किया है। उसी श्रद्धा और समर्पण के बल पर वे अपने जीवन में आगे बढ़ते गए और अन्ततः ब्रह्मज्ञान के सर्वोच्च शिखर को प्राप्त किया। कई गुरुजन मात्र विद्वान् गुरु रहते हैं, कई सिर्फ तांत्रिक गुरु। लेकिन स्वामीजी एक से दूसरे

स्तर तक आगे बढ़ते गए। उनके जीवन के हर चरण की उपलब्धियाँ स्पष्ट हैं; मुंगेर में वे किस स्तर पर थे, रिखिया जाने पर उनकी उपलब्धि क्या थी, और रिखिया छोड़ने पर वे क्या बने। आप में से हर कोई उनके क्रम-विकास और रूपान्तरण का साक्षी रहा है। लेकिन इन स्तरों का यह मतलब नहीं कि एक स्तर का गुरु दूसरे स्तर के गुरु से श्रेष्ठ है।

गुरुओं को श्रेणियों में विभाजित करने का प्रयोजन सिर्फ इतना है कि हम अपने जीवन में गुरु की भूमिका को समझ सकें। शिष्य के लिए कोई गुरु छोटा या बड़ा नहीं होता, सभी एक स्तर पर होते हैं। इन चार श्रेणियों को ऊँच-नीच के दृष्टिकोण से मत देखो, बल्कि इन्हें विभिन्न व्यक्तियों के भिन्न-भिन्न व्यवहारों और अभिव्यक्तियों के रूप में देखो। गुरु की चर्चा अब हम यहीं समाप्त करते हैं।

शिष्यत्व का अगला पड़ाव

पिछले महीने हम लोगों ने गुरु पूर्णिमा मनायी और यह पहली गुरु पूर्णिमा थी जो हमने श्री स्वामीजी की शारीरिक अनुपस्थिति में मनायी। लेकिन ऐसा आभास हुआ कि हर व्यक्ति के जीवन में उनकी उपस्थिति और भी प्रगाढ़ हो गई है। उनका शारीरिक अभाव खला नहीं, बल्कि लगा कि अब तो हम उनके और निकट आ गये हैं।

वैसे तो मैंने बहुत ही कम गुरु पूर्णिमा कार्यक्रम अपने गुरु के सान्निध्य में बिताये हैं। वे कहते थे कि तुम गुरु पूर्णिमा बाहर जाकर, अलग-अलग प्रान्तों और शहरों में मनाओ ताकि जो लोग यहाँ नहीं आ पाते हैं, वे इस अवसर से वंचित न हों। लेकिन उनकी उपस्थिति की अनुभूति हमेशा रहती थी। चाहे हम गुरु पूर्णिमा मुम्बई, बैंगलुरु, चेन्नई या भुज में ही क्यों न मना रहे हों, यह बोध हमेशा बना रहता था कि गुरुजी रिखिया में उपस्थित हैं और कार्यक्रम समाप्त होने के बाद उनका दर्शन करेंगे, फिर मुंगेर जायेंगे।

अपने जीवन के पचास साल के क्रम में कोई भी दिन ऐसा नहीं था जब मैंने अपने गुरु के सामीप्य का अनुभव नहीं किया। जन्म से मैं अपने गुरु जी के सान्निध्य, मार्गदर्शन और निर्देशन में रहा हूँ। पचास वर्षों में मैंने कभी यह नहीं सोचा कि उनके बगैर मेरा जीवन कैसा होगा। मैं हमेशा वर्त्तमान में जीता था– 'यहाँ जाओ, वहाँ जाओ, यह करो, वह करो', जो कुछ वे कहते गए, मैं करता गया। यही मेरे शिष्यत्व की पूर्णता थी। और जिस दिन मेरे

जीवन के पचास साल पूरे होते हैं, उस दिन मैं अपने आप को अकेला पाता हूँ। पहली बार उनकी शारीरिक उपस्थिति नहीं है। इसलिए मेरे जीवन में एक बहुत बड़ा परिवर्तन आया है।

पचास साल तक मेरी एक सामाजिक पहचान थी। लेकिन सन् 2010 से मेरा व्यक्तिगत जीवन आरम्भ हुआ है। इसका मतलब यह कि मैं ऐसे अनेक दायित्वों, जिम्मेदारियों और प्रतिबन्धों से मुक्त हो गया हूँ, जो पहले मुझे अलग-अलग क्रिया-कलापों में संलग्न रखते थे। मुझे संन्यास के आदर्शों का अनुसरण करने की स्वतंत्रता मिल गई है, क्योंकि जीवन के इस नये अध्याय में वे मेरे लिए बहुत अहमियत रखते हैं। लेकिन अपने जीवन का यह नया अध्याय शुरू करने से पहले मुझे गुरु जी के साथ अपने सम्बन्ध को, उनके प्रति अपने धर्म और कर्त्तव्य को पुनः स्पष्ट करना है। जब श्री स्वामीजी ने अपने गुरु का आश्रम छोड़ा या जब उनके गुरु महासमाधि में लीन हुए, ऐसे अवसरों पर उन्हें भी अपने गुरु के प्रति अपने धर्म और कर्त्तव्य को पुनः पारिभाषित करना पड़ा था। स्वामी शिवानन्द जी के अनेक शिष्यों को ऐसा करना पड़ा। जो यह कर सके, वे शिवानन्द परम्परा के प्रकाश-स्तम्भ बने। हमारी परम्परा में जो अपने धर्म और कर्त्तव्य को स्पष्ट कर पाएगा, वह आगे बढ़ेगा, और जो नहीं कर पाएगा वह वहीं का वहीं रह जाएगा।

इसलिए एक शिष्य के रूप में, अपने गुरु की अनुपस्थिति में मुझे अपने धर्म और कर्त्तव्य को स्पष्ट करना है। किस धर्म की शक्ति अब मेरा पथ-प्रदर्शन करेगी? गुरु-कृपा तो निस्संदेह हमेशा रहती ही है, लेकिन एक शिष्य के रूप में मुझे अब किस प्रकार का जीवन जीना चाहिए? श्री स्वामीजी ने अपना सारा जीवन एक शिष्य के रूप में बिताया। हम उन्हें भले ही गुरु की संज्ञा देते थे, लेकिन वे इस बात को भलीभाँति जानते थे कि सर्वप्रथम मैं अपने गुरु का शिष्य हूँ, जो केवल अपने गुरु के आदेशों का पालन कर रहा है। जो मान्यता और विश्वास हम अपने भीतर संजोकर रखते हैं, वास्तव में वही मायने रखते हैं। लोग क्या कहते हैं, इससे कुछ फर्क नहीं पड़ता। मेरा अपने गुरु से क्या सम्बन्ध है, इसकी जाँच-पड़ताल मुझे खुद करनी है। आखिर वे ही मेरे मार्गदर्शक हैं, तुम थोड़े ही हो।

इसी चिन्तन से हमने यह सत्संग कार्यक्रम आरम्भ किया है। ईश्वर तथा गुरु, दोनों की ऊर्जा एक होती है। अभी मैं शरीरधारी गुरु नहीं, गुरु तत्त्व की

बात कर रहा हूँ। ईश्वर और गुरु में अंतर केवल इतना है कि ईश्वर निराकार है और गुरु साकार। ईश्वर को हम देख नहीं सकते, लेकिन गुरु तत्त्व के साकार स्वरूप को अवश्य देख सकते हैं। और जब हमें गुरु तत्त्व के साकार रूप का बोध होता है तब उसके साथ हमारा एक शारीरिक, भावनात्मक, मानसिक और आध्यात्मिक सम्बन्ध भी बनता है। लेकिन जब गुरु का शरीर नहीं रहता, उस समय गुरु तत्त्व की खोज अपने भीतर की जाती है और यह निर्णय लेना पड़ता है कि शिष्य होने के नाते हमारा धर्म और कर्त्तव्य क्या है। यह जानना पड़ता है और उसके अनुसार अपना शेष जीवन व्यतीत करना पड़ता है।

सारांश

अभी तक मैंने इस विषय की सिर्फ पृष्ठभूमि तैयार की है, जिसमें गुरु तत्त्व की कुछ मौलिक अवधारणाओं के बारे में संकेत दिया है।

गुरु तत्त्व की अवधारणा को सही दृष्टिकोण से समझना होगा। वस्तुत: गुरु तत्त्व तुम्हारी अन्तरात्मा ही है। दोनों में कोई अंतर नहीं, केवल शब्द-भेद है। तुम चाहे आत्मा कहो या चेतना कहो या गुरु तत्त्व। गुरु तत्त्व अपने में पूर्ण है, क्योंकि यह उस पूर्ण परमात्म तत्त्व का अंश है। *पूर्णमद: पूर्णमिदम्*, वह भी पूर्ण है और यह भी पूर्ण है।

गुरु तत्त्व का उद्देश्य व्यक्ति को धर्म और मोक्ष के मार्ग पर ले जाना है। यह एक आध्यात्मिक दायित्व है। आध्यात्मिक विद्या का शिक्षक गुरु कहलाता है, जबकि लौकिक विद्याओं का शिक्षक लेक्चरर या प्रोफेसर कहलाता है, गुरु नहीं। गुरु परा-विद्या प्रदान कर धर्म और मोक्ष का मार्ग प्रशस्त करता है, जबकि शिक्षक अपरा-विद्या प्रदान कर तुम्हें सांसारिक जीवन में आगे बढ़ाता है।

गुरु ऐसे व्यक्ति होते हैं जो विशेष योग्यताओं, कर्मों और संस्कारों के साथ आते हैं और जिन्हें एक विशेष प्रयोजन और प्रारब्ध को पूरा करना होता है। जिस तरह किसी निर्जन स्थान में भटकते भूखे व्यक्ति को भोजन की गंध किसी ठौर-ठिकाने तक पहुँचा ही देती है, उसी तरह गुरुजनों को उनके जाने बगैर उनके निर्दिष्ट पथ तक ले आया जाता है। ऐसे चयनित व्यक्तियों का जीवन उच्च शक्तियों द्वारा निर्देशित और पूर्वनियोजित होता है। उन्हें स्वयं यह मालूम नहीं रहता कि भविष्य में उनकी भूमिका क्या रहेगी, उन्हें किस

विशेष प्रयोजन को सिद्ध करने के लिए चुना गया है, लेकिन उन्हें एक ऐसी दिशा में, एक ऐसे मार्ग पर भेज दिया जाता है जहाँ से वे कभी पीछे नहीं लौट सकते। यही लोग सच्चे गुरु होते हैं, जो हमारे प्रेरक और मार्गदर्शक बनते हैं।

हर शिष्य गुरु के साथ अपना एक व्यक्तिगत सम्बन्ध स्थापित करता है और उस सम्बन्ध के अनुसार उनकी शिक्षाओं को ग्रहण और आत्मसात् करता है। लेकिन वास्तव में गुरु एक सर्वव्यापक शक्ति है और जब हम लोग उस व्यापक शक्ति को एक व्यक्ति में ही सीमित करना चाहते हैं, वहाँ पर गुरु हमको कहते हैं कि नहीं, तुम उस सद्गुरु की खोज करो जो तुम्हारे भीतर है। हम तुमको अंदर जाने में, स्विच खोजने में मदद कर सकते हैं। लेकिन एक बार वह स्विच चालू हो जाए, तब तुम खुद उस सद्गुरु को अपने भीतर देखोगे। और तब बाहर का गुरु भी तुम्हारे भीतर प्रवेश कर जाता है।

गुरु के बारे में मैं इतना ही कहना चाहता हूँ। मैं यह नहीं कह सकता कि गुरु को ऐसा होना चाहिए या वैसा। आखिर एक शिष्य कैसे कह सकता है कि गुरु को कैसा होना चाहिए? मुझे तो यह बात बहुत अजीब लगती है। हर कोई गुरु के विषय में ग्रन्थ लिखने को तैयार है, लेकिन शिष्यत्व के बारे में कोई एक लेख तक लिखने को तैयार नहीं। मैं ग्रन्थ लिखना चाहता हूँ शिष्यत्व पर, शिष्य के उन धर्मों और कर्त्तव्यों पर, जो बाह्य और आंतरिक, दोनों स्तरों पर उसे गुरु तत्त्व से जोड़ते हैं।

मानव स्वभाव और उसकी ग्रहणशीलता

6 अगस्त 2010

सारांश

मैंने उस घटना के बारे में आपको बतलाया था जिसमें गुरुपीठ की ज्योति लगभग बारह दिनों तक बिना तेल डाले या बाती बदले लगातार जलती रही। इस घटना से एक स्वाभाविक प्रश्न उठता है। किसने बिना तेल की खपत किये, बिना बाती को जलाये, ज्योति को इतने दिनों तक प्रज्वलित रखा? उत्तर में मन अपने आप कहता है, किसी प्रकार की शक्ति ने। लोग इसे एक चमत्कार या आश्चर्यजनक घटना कह सकते हैं, वह लोगों की अपनी मान्यता है। लेकिन उस प्रज्वलित ज्योति से किसी और चीज का भी संकेत मिलता है, जो न तो चमत्कार है, न ही कोई विस्मयकारी घटना। वह संकेत है एक विशेष ऊर्जा, एक विशेष शक्ति की उपस्थिति का। एक छठे तत्त्व के अस्तित्व का, जो अन्य पाँच तत्त्वों–पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश को नियंत्रित करता है।

यह छठा तत्त्व विशुद्ध ऊर्जा है, शक्ति का घनीभूत स्वरूप है। संन्यास और गुरु परम्परा में ऐसा कहा जाता है कि सिद्ध गुरु मृत्योपरान्त भी अपनी चेतना नहीं खोते, बल्कि उनकी चेतना और अधिक जागृत और प्रभावशाली हो जाती है। प्रकाश का रूप लेकर वह चेतना उन विशेष स्थानों में एकत्र होती है जहाँ आराधना, अनुष्ठान, मंत्रपाठ, प्रार्थना, ध्यान आदि किये जाते हैं। जहाँ मन की अवस्था सकारात्मक होती है, उस स्थान में गुरु तत्त्व अवश्य साकार हो सकता है।

हो सकता है नासमझ लोग इस घटना को किसी भूत-प्रेत या पिशाच की करतूत कहें। लेकिन गुरुपीठ में भूत-प्रेत प्रवेश नहीं कर सकते। अगर वे करेंगे भी तो तुरन्त रूपान्तरित हो जाएँगे। इस घटना के पीछे ईश्वर भी नहीं, क्योंकि ईश्वर तो सर्वव्यापक है। कारण तो केवल गुरु ही हो सकते हैं, जो यह बतलाना चाहते थे कि मैं हमेशा मौजूद हूँ।

गुरु तत्त्व–गुरु तत्त्व भौतिक जीवन में ईश्वर की शक्ति का प्रतिनिधित्व करता है। ईश्वर अव्यक्त है और गुरु शक्ति व्यक्त। वह शक्ति जो असीम और सर्वव्यापी है, ईश्वर कहलाती है। जब वही शक्ति पृथ्वी पर एक रूप, एक आकार, एक शरीर धारण कर जन्म लेती है, तब उसे गुरु तत्त्व, आत्मा या चेतना की संज्ञा दी जाती है। जो आत्मा हमारे जीवन में प्रवेश करती है, उसी को हम अपने भीतर स्थित सद्‌गुरु की संज्ञा देते हैं।

तत्त्व दो ही हैं, आत्मा तथा परमात्मा। और परमात्मा सत्-स्वरूप है। वह सद्‌गुरु के रूप में हमारे जीवन में प्रकट होकर हमें जीवन का बोध कराता है। वह हमें अविद्या के अंधकार से मुक्त होकर अपने आपको ज्ञान के प्रकाश में स्थापित करने के लिए प्रेरित करता है। और यही हर व्यक्ति की अंतरात्मा की चाह होती है। धन, संपत्ति, संतान, नाम और यश आपका मन चाह सकता है, लेकिन जो आत्मा की चाह है वह मन की चाह से भिन्न है। आत्मा की चाह है अंधकार को दूर कर प्रकाशमय परमात्मा के साथ एकाकार हो जाना।

परमात्मा की ही शक्ति गुरु तत्त्व के रूप में जीवन में प्रकट होती है और यही गुरु तत्त्व हमें पुनः परमात्मा से मिलाने का काम करता है। यह गुरु तत्त्व हर व्यक्ति, हर पशु, हर जीव के भीतर है। इस संसार में कोई ऐसा प्राणी नहीं, जिसके भीतर गुरु तत्त्व न हो। जैसे जीवन मन तथा उसकी कामनाओं-इच्छाओं द्वारा संचालित होता है, वैसे ही आत्मा का जो प्रेरक तत्त्व है, जो उसे पुनः अपने स्वामी से मिलने के लिए प्रेरित करता है, वह है गुरु तत्त्व।

जो लोग गुरु तत्त्व का साक्षात्कार कर लेते हैं, वे कालान्तर में गुरु बनते हैं। तुम लोगों को उस तत्त्व को जगाने के लिए मेहनत करनी पड़ती है, उसकी खोज करनी पड़ती है, संघर्ष से गुजरना पड़ता है, मन की लातें खानी पड़ती हैं। लेकिन गुरुजन चुने हुए लोग होते हैं। वे ईश्वर के संदेशवाहक के रूप में इस धरती पर जन्म लेते हैं और अपने साथ उपयुक्त संस्कार, कर्म और प्रारब्ध लाते हैं। ईश्वर की कृपा से उनकी चेतना और शक्ति बचपन से ही जागृत होती है। वे समाज को प्रेरणा देते हैं, समाज के आदर्श बनते



हैं। और बिना किसी व्यक्तिगत प्रयास के आध्यात्मिक मार्ग पर लाए जाते हैं। मानो कोई चीज उन्हें खींचती है। वे उस आकर्षण का प्रतिरोध नहीं कर पाते और अन्ततः आध्यात्मिक पथ पर, आध्यात्मिक परम्परा में प्रतिष्ठित हो जाते हैं। समाज या परिवार उन्हें रोक नहीं पाता, क्योंकि स्वयं भगवान उनका पथ-प्रदर्शन करते हैं। ऐसे महापुरुष किसी विशेष कार्य को सिद्ध करने आते हैं और उसी में संलग्न रहते हैं। भगवद् गीता में श्री कृष्ण कहते हैं (4:7)–

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥

'जब-जब धर्म की हानि होती है और अधर्म का प्रादुर्भाव होता है, तब-तब मेरा आना होता है।'

हमारे सामने शंकराचार्य का उदाहरण है, जिन्होंने आठ साल की अवस्था में घर-परिवार त्याग कर संन्यास ग्रहण किया। यह उनका प्रारब्ध था कि वे सब कुछ छोड़कर संन्यासी बन जाएँ। और वही बालक बाद में हमारी परम्परा के आदि-गुरु, आदि-प्रणेता के रूप में जाना गया। रमण महर्षि अपने घर से सब्जियाँ खरीदने निकले और अरुणाचल जा पहुँचे। स्वामी शिवानन्द जी

को किसी अदृश्य शक्ति ने भारत लौटने और सीधे हिमालय जाने के लिए विवश किया, क्योंकि बुलावा आ गया था। हमारे गुरु, स्वामी सत्यानन्द जी एक अन्य उदाहरण हैं। वे जीवन में कुछ भी बन सकते थे, लेकिन उनकी नियति एक आध्यात्मिक विभूति बनने की थी। वे इस मार्ग में अपनी मर्जी से नहीं आए, उनकी नियति उन्हें खींच लाई। इस प्रकार हम देखते हैं कि गुरुजनों का एक विशेष व्यक्तित्व, प्रारब्ध, कर्म, संस्कार और प्रयोजन होता है। साधारण लोग उनकी नकल नहीं कर सकते।

तुम लोग इच्छा-ग्रस्त हो, मोह-ग्रस्त हो, तुम्हारे ऊपर घर-परिवार और समाज का अंकुश है। अगर तुम आश्रम में भी जाना चाहते हो तो तुम्हारे बड़े-बुजुर्ग पूछते हैं, 'साधु बनने के लिए आश्रम जा रहे हो क्या?' तुममें तो वह विशिष्ट संस्कार है नहीं। वह संस्कार ईश्वर की देन है। उसी संस्कार को हम लोग कहते हैं सत्-संस्कार, क्योंकि वही मनुष्य को सत्य के साथ जोड़ता है, जबकि असत्-संस्कार मनुष्य को संसार के साथ जोड़ता है। असत् का मतलब तामसिक और राजसिक। संसार की मोह-माया तुम्हें अच्छी लगती है, संसार की चमक-दमक तुम्हें आकृष्ट करती है। तुम अच्छी गाड़ी या अच्छा बंगला देखते हो तो उसे पाने की इच्छा होने लगती है। तुम पूरी तरह भौतिकता में ही लिप्त हो। लेकिन सत्-संस्कार मनुष्य को मोह-माया से मुक्त कर आत्माभिमुख और ईश्वराभिमुख बनाता है, अंतरात्मा में स्थित सत्-स्वरूप का दर्शन कराता है। और जब मनुष्य को सत्-स्वरूप का, सद्गुरु का दर्शन हो जाता है, तब वह ईश्वर के समीप आ जाता है। यही गुरु तत्त्व का अनुभव है।

बहुत-से शिष्य सोचते हैं कि एक दिन मैं अपने गुरु के समान महान् बन जाऊँगा। कितनी बड़ी भूल है यह! तुम गुरु के पास गुरु बनने नहीं, मार्गदर्शन के लिए आए हो, ताकि अपनी जीवन-यात्रा सम्पन्न कर सको। तुम्हें इसी सिद्धान्त को मानकर चलना है, न कि यह कि तुम एक दिन अपने गुरु जैसे बन जाओगे। वह तो तुम्हारे अहंकार और महत्त्वाकांक्षा की अभिव्यक्ति है। अगर तुम ऐसा ही सोचते और मानते हो तब तो गुरु छोड़ो, तुम शिष्य कहलाने लायक भी नहीं। शिष्य छोड़ो, तुम साधक कहलाने लायक भी नहीं।

सीधी और सच्ची बात यह है कि गुरु बनने का न तो तुम्हारा प्रारब्ध है और न ही संस्कार। तब फिर तुम क्या बन सकते हो? एक शिष्य। तुम एक

अच्छा शिष्य बनने के कर्म, संस्कार और प्रारब्ध अर्जित कर सकते हो। अगर तुम अपने कर्म सुधार पाते हो तो हो सकता है कि एक दिन भगवान तुम्हें उस प्रबल गुरु-शक्ति को ग्रहण कर सकने की क्षमता प्रदान कर दें।

गुरु तत्त्व को मन या बुद्धि द्वारा ग्रहण नहीं किया जा सकता। आध्यात्मिक जीवन में एक मोड़ ऐसा आता है जिसके आगे बुद्धि बाधा बन जाती है। भावना भी बाधा हो जाती है। गुरु तत्त्व का साक्षात्कार तभी सम्भव है जब बुद्धि और भावनाओं का अतिक्रमण हो जाता है और आत्मा का सम्बन्ध सीधे परमात्मा से जुड़ जाता है। यही आत्म-ज्ञान की अवस्था है, यही ईश्वर-साक्षात्कार का अनुभव है।

जहाँ पर साधना और उपासना की जाती है, वहाँ गुरु तत्त्व का अनुभव आसानी से प्राप्त किया जा सकता है। ऐसे स्थान पर सत्-संस्कार मिलते हैं, मन को शांति मिलती है। विद्युत् का प्रकाश चारों ओर फैलता है, लेकिन इस फैलते प्रकाश को अगर तुम एक बिन्दु पर केन्द्रित कर दोगे तो उस प्रकाश का स्वरूप हो जाएगा 'लेज़र' का। उसी तरह जहाँ पर आराधना, तपस्या, श्रद्धा, विश्वास और समर्पण है, वहाँ गुरु तत्त्व का सघनीकरण होता है और मनुष्य को उस ऊर्जा का आभास हो सकता है। गंगादर्शन में जो घटना घटी, वह यही दर्शाती है कि गुरु तत्त्व का सघनीकरण हुआ है। जिस तत्त्व की खोज एक आध्यात्मिक साधक जीवनभर करता है, वह गुरु तत्त्व इस स्थान में प्रतिष्ठित है।

चार प्रकार के गुरु–जो लोग गुरु संस्कार से युक्त होते हैं, उन्हें चार श्रेणियों में बाँटा जाता है। ये श्रेणियाँ गुरुत्व के विकास को नहीं दर्शातीं, बल्कि एक-दूसरे के समानान्तर हैं। चूँकि गुरु बनना एक संस्कार है, एक अवश्यम्भावी प्रारब्ध है, इसलिए उसे तो साकार करना ही होगा, चाहे जिस भी रूप में ईश्वर उसे पूरा कराना चाहें। वाद्य तो अनेक होते हैं, लेकिन सभी मिलकर संगीत ही पैदा करते हैं। चाहे वह वाद्य हारमोनियम हो या बाँसुरी या सितार, बजाने पर उससे मधुर स्वर निकलता है। इसी प्रकार, चारों प्रकार के गुरुओं से मधुर संगीत ही निःसृत होता है। एक गुरु दूसरे गुरु से छोटे या बड़े नहीं होते।

गुरुओं की पहली श्रेणी है विद्वान् गुरुओं की। कहते हैं कि उनकी जिह्वा पर सरस्वती विराजती हैं। उन्होंने सब विषयों का अध्ययन किया होता है, वे सब कुछ जानते हैं और किसी भी विषय पर बोल सकते हैं। यह जरूरी नहीं

कि वे साधक भी हों। लेकिन उनमें गुरु तत्त्व जागृत होता है। यह आवश्यक नहीं कि उन्हें आध्यात्मिक जीवन के विभिन्न पड़ावों का प्रत्यक्ष अनुभव हो। लेकिन वे अच्छे वक्ता होते हैं और उनके जीवन का प्रयोजन आध्यात्मिक ज्ञान का प्रचार-प्रसार होता है।

योगी गुरु दूसरी श्रेणी के गुरु होते हैं। इस श्रेणी में वे लोग आते हैं जिन्होंने अपने मन को पूरी तरह नियंत्रित कर लिया होता है, जिन्होंने अपनी वाणी, विचार और व्यवहार में संयम प्राप्त कर लिया होता है। उनका जीवन संतुलित और शान्त होता है, वे दूसरों के लिए अनुकरणीय आदर्श स्थापित करते हैं।

तीसरे प्रकार का गुरु तांत्रिक गुरु होता है। तांत्रिक गुरु का अभिप्राय किसी ऐसे व्यक्ति से नहीं जो मंत्र-यंत्र-मण्डल के माध्यम से जादू-टोना या चमत्कार करता हो। तांत्रिक गुरु एक सिद्ध पुरुष होता है, जो सूक्ष्म ऊर्जाओं को नियंत्रित कर सकता है। रामकृष्ण परमहंस तांत्रिक गुरु के उदाहरण हैं। दुनिया के लिए भले ही वे एक सिरफिरे व्यक्ति थे, लेकिन वास्तव में वे इतने ऊँचे स्तर के तांत्रिक गुरु थे कि उनके स्पर्श मात्र से स्वामी विवेकानन्द को ब्रह्माण्डीय चेतना का अनुभव हो गया।

हमारे देश के महान् संत, बाबा नित्यानंद भी तांत्रिक गुरु थे। एक अन्य उदाहरण हमारे अपने गुरु, स्वामी सत्यानन्द जी हैं। बिना कुछ कहे-सुने हमें सब कुछ सिखा गए। कम-से-कम मुझे तो जरूर सिखा गए। और मुझे पता तक नहीं चला कि मैं सीख रहा हूँ। जब मैं गहरी नींद में सो रहा होता था तब वे मुझे सब कुछ सिखाते थे। यह सम्प्रेषण की प्रक्रिया थी। उन्होंने इसे कैसे सम्पादित किया, यह अलग बात है, लेकिन जो हुआ वह सम्प्रेषण था। वास्तव में उन्होंने यह कार्य हम सबके साथ किया है। अगर हम इसके प्रति सजग नहीं तो यह हमारी कमी है। जिस तरह सूर्य अपना प्रकाश सब पर समान रूप से बिखेरता है, उसी तरह श्री स्वामीजी का अनुग्रह हमें समान रूप से प्राप्त हुआ है।

चौथे प्रकार का गुरु ब्रह्मनिष्ठ गुरु होता है। वह देहाध्यास से परे जा चुका होता है। वह सामाजिक बन्धनों और मानसिक इच्छाओं के दायरे में कैद नहीं होता। हालाँकि वह शरीरधारी होता है, लेकिन वास्तव में वह एक अवधूत होता है, जिसने इस शरीर में सर्वोच्च चेतना को अवतरित किया है। भौतिक शरीर में रहते हुए भी वह सूक्ष्म चेतना का अनुभव कर पाता है।



गुरु और शिक्षक—जीवन में गुरु की भूमिका को सही तरीके से समझने के लिए हमें पहले कुछ और समझना होगा। जीवन में चार पुरुषार्थ होते हैं, जिनमें पहले दो अर्थ और काम कहलाते हैं। जो लोग हमें अर्थ और काम पुरुषार्थों को सिद्ध करने लायक शिक्षा देते हैं, जो हमें सांसारिक जीवन के लिए तैयार करते हैं, वे शिक्षक कहलाते हैं। जीवन के शेष दो पुरुषार्थ धर्म तथा मोक्ष हैं। जो हमें इन दो पुरुषार्थों को सिद्ध करने के लिए प्रशिक्षित करते हैं, वे गुरु कहलाते हैं। गुरु हमें धार्मिक और सदाचारी जीवन के सिद्धान्त सिखाते हैं, अपने दु:खों के निवारण का उपाय बताते हैं और मन की शान्त, सौम्य अवस्था प्राप्त करने का मार्ग दिखाते हैं।

जैसे शिक्षक हमें लौकिक शिक्षा प्रदान कर अपना दायित्व पूरा करते हैं, वैसे ही गुरु हमें धर्म और मोक्ष का ज्ञान देकर अपनी भूमिका अदा करते हैं। इसका मतलब यह कि हमारे जीवन में गुरु की भूमिका सिर्फ धर्म और मोक्ष से सम्बन्धित रहती है। अर्थ और काम से उसका कोई सरोकार नहीं। इस तरह हम देखते हैं कि जीवन के चार चरणों में शिक्षक की भूमिका पहले दो चरणों, अर्थात् काम और अर्थ की प्राप्ति में रहती है, जबकि गुरु की भूमिका अंतिम दो चरणों, अर्थात् धर्म और मोक्ष के अर्जन में रहती है।

चार प्रकार के मनुष्य

समाज में चार प्रकार के मनुष्य पाए जाते हैं। पहला वर्ग आर्त कहलाता है। इसमें वे लोग आते हैं जो जीवन में दु:ख और कष्ट भोग रहे हैं, जिनके

जीवन में तनाव और परेशानी है, जो अपनी स्थिति को सुधारने के लिए निरंतर संघर्ष कर रहे हैं। दूसरा वर्ग है अर्थार्थी लोगों का, जो स्व-केन्द्रित और स्वार्थी हैं। उन्हें जो चीज पसन्द आ जाती है, उसे वे हासिल करना चाहते हैं। उन्हें लगता है कि सारी दुनिया उन्हीं के इर्द-गिर्द घूमती है। वे आत्म-केन्द्रित ही नहीं, आत्म-सम्मोहित भी होते हैं, क्योंकि वे अपने सीमित दायरे के बाहर कुछ नहीं देख सकते।

तीसरे प्रकार के मनुष्य जिज्ञासु स्वभाव के होते हैं। वे निरंतर जिज्ञासा करते हैं, खोज करते हैं, प्रश्न करते हैं–'ऐसा क्यों होता है, वैसा क्यों नहीं होता?' और अपने सवालों का जवाब ढूँढने का प्रयास करते हैं।

चौथे प्रकार का मनुष्य होता है मुमुक्षु, जो सभी बन्धनों से मुक्ति चाहता है, स्वतंत्र होना चाहता है। संसार उसे रसहीन, सारहीन और निष्प्रयोजन प्रतीत होता है। किसी तरह वह अपनी जीविका चलाए रखता है, लेकिन उसके ध्यान और आकर्षण का केन्द्र कुछ और होता है। उसका रुझान रहस्यवाद और अध्यात्म की ओर रहता है।

चारों वर्गों के मनुष्य गुरु के साथ अलग-अलग रिश्ता कायम करते हैं। हर वर्ग के शिष्यत्व की गुणवत्ता भिन्न होती है। मेरी शिष्यत्व की यात्रा तुम्हारी यात्रा से बिल्कुल अलग है। तुम्हारी यात्रा किसी तीसरे व्यक्ति की यात्रा से बिल्कुल भिन्न है। आपस में तुलना या प्रतिस्पर्धा करना व्यर्थ है। लेकिन फिर भी लोग तुलना करते हैं, एक-दूसरे से प्रतिस्पर्धा करते हैं। यहाँ बैठे गेरु वस्त्रधारी संन्यासी तक ऐसा करते हैं। इससे शिष्यत्व का प्रयोजन ही खत्म हो जाता है। तुम अपने गुरु के साथ जो सम्बन्ध स्थापित करते हो, वह पूर्णतया व्यक्तिगत है। सबसे सीधा और सरल सिद्धान्त यही है। गुरु के साथ तुम्हारा सम्बन्ध सिर्फ तुम तक सीमित होता है।

आर्त और अर्थार्थी की प्रार्थना

जब आर्त और अर्थार्थी शिष्य गुरु के साथ सम्बन्ध जोड़ते हैं तब कहते हैं–

त्वमेव माता च पिता त्वमेव, त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव ।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव, त्वमेव सर्वं मम देव देव ॥

वे एक ऐसा सम्बन्ध स्थापित करते हैं जो मूलत: भौतिक होता है। आखिर उन्होंने यह क्यों कहा कि तुम ही मेरे माता हो, तुम ही मेरे पिता हो? यह क्यों

नहीं कहा कि तुम ही मेरे गुरु हो? यह क्यों कहा कि तुम मेरे बन्धु, सखा, विद्या, धन-सम्पत्ति, मेरे सब कुछ हो?

यह आर्त और अर्थार्थी मनुष्यों की प्रार्थना है, क्योंकि वे सिर्फ स्थूल, भौतिक स्तर पर सम्बन्ध स्थापित करते हैं। उनके लिए गुरु जीवन में सुख-समृद्धि पाने का माध्यम भर रहता है। गुरु उनकी समस्याओं और परेशानियों को सुलझाने वाला सलाहकार बन जाता है, उनकी बीमारियों और रोगों का उपचार करने वाला चिकित्सक बन जाता है, उनके तनावों और चिन्ताओं का निदान करने वाला मनोचिकित्सक बन जाता है। वह शादी-ब्याह कराने वाला भी बन जाता है! उससे यह पूछा जाता है कि चेले के बेटा-बेटी की किस से शादी होनी चाहिए और शादी के बाद दोनों की पटरी बैठेगी या नहीं। कितना हास्यस्पद सम्बन्ध है यह! गुरु के साथ लोग प्राय: इसी प्रकार का सांसारिक रिश्ता जोड़ते हैं, जिसे समझने में मुझे बहुत कठिनाई होती है, क्योंकि मुझे तो यह हाथी से हल चलवाने जैसा प्रतीत होता है।

अपने गुरु के साथ जो सलाहकार के जैसा व्यवहार और सम्बन्ध हम स्थापित करते हैं, वह स्वावलम्बन की बजाय परावलम्बन पैदा करता है। आर्त और अर्थार्थी व्यक्ति भी जप और ध्यान का अभ्यास करेंगे, लेकिन उनका स्वार्थ हमेशा सामने रहेगा। गुरु के हर सत्संग कार्यक्रम में जायेंगे, लेकिन उनका मुख्य प्रयोजन अपने तक ही सीमित है–'हमारे जीवन में सुख, शांति और समृद्धि होनी चाहिए और गुरुजी की कृपा से यह सब हमको मिलता रहे।' ये लोग कहते हैं, 'गुरुजी, आप मेरे माता-पिता समान हैं। आप इतना स्नेह और प्रेम देते हैं, मैं तो आपका हो गया। आप मेरे मित्र हैं, बंधु हैं, मुझे सही दिशा-निर्देश जो देते हैं।' इस तरह के भाव उनके मन में उत्पन्न होते हैं, लेकिन ये भाव भौतिक जगत् तक ही सीमित रहते हैं। आध्यात्मिक जगत् में ऐसे भावों का प्रवेश नहीं हो पाता।

जब तुम गुरु को माता, पिता या सखा के रूप में देखते हो तब उस सम्बन्ध में परावलम्बन आता है। तुम गुरु से पूछते रहते हो, 'गुरुजी, मैं यह काम करूँ क्या? मैं वह काम करूँ क्या?' गुरुजी को परेशान कर देते हो। गुरुजी दिनभर तुम्हारी अनर्गल बातों को सुनने के लिए थोड़े ही बैठे रहते हैं। उनका भी तो एक जीवन होता है, जीने दो उन्हें अपना जीवन। लेकिन लोग गुरुजी को जबर्दस्ती पकड़कर बैठे रहते हैं, एक-एक चीज पूछते जाते हैं। जिसने कभी खुद व्यापार किया नहीं, उससे तुम व्यापार के बारे में सलाह



माँगते हो। जिसने कभी चिकित्सा-विज्ञान पढ़ा नहीं, वह तुम्हारा व्यक्तिगत डॉक्टर बन जाता है। ऐसा सम्बन्ध भौतिक सम्बन्ध है और अस्सी प्रतिशत लोग इसी श्रेणी में आते हैं। उनमें आध्यात्मिक पिपासा नहीं होती।

जिज्ञासु और मुमुक्षु की प्रार्थना

जिज्ञासुओं और मुमुक्षुओं का गुरु के साथ अन्य प्रकार का सम्बन्ध होता है, जिसका आधार किसी भौतिक वस्तु की प्राप्ति नहीं, बल्कि जीवन में आध्यात्मिक विकास होता है। ऐसे व्यक्तियों के भाव अलग होते हैं। वे गुरु से यह नहीं कहते कि तुम्हीं मेरे माता हो, तुम्हीं मेरे पिता हो, तुम्हीं मेरी विद्या और सम्पत्ति हो, बल्कि उनके उद्‌गार कुछ अलग प्रकार के होते हैं–

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुः गुरुर्देवो महेश्वरः ।
गुरुः साक्षात् परंब्रह्म तस्मै श्री गुरवे नमः ॥

वे पारलौकिक गुरु तत्त्व से सम्बन्ध जोड़ते हैं। वे हमेशा इस बात को याद रखते हैं कि गुरु उनके मार्गदर्शक हैं, इसलिए इस सम्बन्ध में कोई भौतिक निर्भरता नहीं होती। उनमें आध्यात्मिक पिपासा होती है, उनका एक प्रयोजन और लक्ष्य रहता है। वे अपने लिए एक दिशा निश्चित कर लेते

हैं। वे जानना चाहते हैं, 'मैं कर क्या रहा हूँ यहाँ पर? खाना, पीना, नौकरी करना, पेंशन लेना और मर जाना, क्या मेरे जीवन का इतना ही प्रयोजन है? मेरा वास्तविक घर कहाँ है, मैं अपने घर से इतना दूर क्यों हूँ?'

जो जिज्ञासु है वह जीवन के सार की खोज करता है और जो मुमुक्षु है वह उस सार को प्राप्त कर उससे एकाकार होना चाहता है। इसमें उनका अपना कोई स्वार्थ तो होता नहीं कि मेरी बीमारी ठीक हो जाए या मेरी समस्या सुलझ जाए। उनका लक्ष्य स्पष्ट होता है। और जो गुरु उनकी इस जिज्ञासा को तृप्त करता है तथा लक्ष्य की ओर आगे बढ़ने के लिए निर्देशित करता है, वह उनके लिए प्रेरक होता है, माँ या बाप नहीं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आर्त या अर्थार्थी वर्ग के व्यक्ति और जिज्ञासु या मुमुक्षु वर्ग के व्यक्ति के दृष्टिकोण और सम्बन्ध में अंतर होता है। एक भौतिक सम्पत्ति की खोज कर रहा है तो दूसरा आध्यात्मिक सम्पदा की।

अपने मनोरथों को जानो

मुण्डकोपनिषद् (3:1:10) में एक विचित्र श्लोक आता है–

यं यं लोकं मनसा संविभाति
विशुद्धसत्त्वः कामयते यांश्च कामान् ।
तं तं लोकं जायते तांश्च कामां-
स्तस्मादात्मज्ञं ह्यर्चयेद् भूतिकामः ॥

जो सुख-समृद्धि का भोग करना चाहते हैं, उन्हें अपनी कामनाओं की पूर्ति के लिए किसी विशुद्ध, आत्म-ज्ञान-सम्पन्न महापुरुष की सेवा-आराधना करनी चाहिए। मुण्डकोपनिषद् के इस श्लोक का यही तात्पर्य है कि भौतिक सुख-सम्पदा की कामना रखने वालों को किसी गुरु से जुड़ना चाहिए। यह पहला बिन्दु हुआ।

उपनिषद् का अगला श्लोक (3:2:1) है–

स वेदैतत् परमं ब्रह्म धाम
यत्र विश्वं निहितं भाति शुभ्रम् ।
उपासते पुरुषं ये ह्यकामा-
स्ते शुक्रमेतदतिवर्तन्ति धीराः ॥



इस श्लोक का अभिप्राय यह कि जो सांसारिक कामनाओं, कर्मों के बन्धनों और जीवन-मृत्यु के चक्र से मुक्त होकर आत्म-ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं, उन्हें भी किसी प्रबुद्ध गुरु की शरण में जाना चाहिए। इस प्रकार इन दो श्लोकों में मनुष्यों का द्विविध वर्गीकरण किया गया है। पहला वर्ग है सांसारिक सुख, समृद्धि और संतुष्टि की आकांक्षा वाले आर्त और अर्थार्थी मनुष्यों का और दूसरा है मोक्षाकांक्षी जिज्ञासुओं और मुमुक्षुओं का। दोनों को अपने मनोरथ की सिद्धि के लिए गुरु के पास जाना चाहिए।

अगर हम गुरु के साथ अपने व्यक्तिगत सम्बन्ध पर दृष्टि डालें तो मुण्डकोपनिषद् के इन श्लोकों को आसानी से समझ सकते हैं। अगर तुम गुरु के प्रति अपने कर्त्तव्य, धर्म और साधना को निर्धारित करना चाहते हो तो पहले तुम्हें उस सम्बन्ध की पहचान करनी होगी जो तुम गुरु के साथ स्थापित करना चाहते हो। एक आर्त या अर्थार्थी मानसिकता के साथ तुम मोक्ष के सपने नहीं देख सकते। एक जिज्ञासु या मुमुक्षु शिष्य होकर तुम अर्थ की अपेक्षा नहीं रख सकते। पहले अच्छे से सोच-विचार कर लो। तुम्हारी मानसिकता एकदम स्पष्ट होनी चाहिए। तुम्हें यह भली-भाँति जानना-समझना होगा कि तुम्हारा स्वभाव किस तरह का है और तुम जीवन में किस चीज की तलाश कर रहे हो। यही गुरु के साथ तुम्हारे सम्बन्ध को निश्चित करेगा।

अगर तुम आध्यात्मिक चेतना और ज्ञान की तलाश में हो तो गुरु के साथ तुम्हारे सम्बन्ध और व्यवहार में केवल यही चीज परिलक्षित होनी चाहिए। इसमें फिर दूसरी चीजें मत मिलाओ। गुरु-शिष्य सम्बन्ध में पति-पत्नी सम्बन्ध या बंधु-सखा सम्बन्ध जोड़ने का प्रयास मत करो। गुरु न किसी का पति होता है, न ही पत्नी, मित्र या सलाहकार। गुरु केवल गुरु होता है। कुएँ में पानी है और तुम्हें वह पानी निकालना है। तुम कितना पानी निकाल पाते हो यह तुम्हारे पात्र पर निर्भर है। अगर कुएँ में गिलास डालोगे तो एक गिलास पानी ही पाओगे। अगर बाल्टी डालोगे तो बाल्टी भर पानी मिलेगा। इसलिए ऐसा कभी मत सोचना कि एक ओर तो गुरु के निर्दिष्ट मार्ग पर चलेंगे और साथ-साथ मार्ग में हमें अपनी मनचाही चीजें भी मिलती रहेंगी। गुरु-शिष्य सम्बन्ध में ऐसी सोच का कोई स्थान नहीं। गुरु-शिष्य सम्बन्ध प्राय: इसी कारण विफल हो जाता है।

अनेक लोग शिष्य बनते हैं, लेकिन क्या वे सफल शिष्य बन पाते हैं? नहीं। केवल वही सफल होते हैं जो अपने मार्ग और लक्ष्य के प्रति निष्ठावान् और ईमानदार रहते हैं, चाहे वे किसी भी वर्ग के हों। गुरु-कृपा से रंक भी राजा बने हैं, लेकिन इसके लिए मार्ग स्पष्ट होना चाहिए, मानसिकता स्पष्ट होनी चाहिए। गुरु कोई मामूली सलाहकार नहीं है। जब वह तुम्हें कुछ निर्देश देता है तब वह केवल तुम्हारी वर्त्तमान परिस्थिति को नहीं देख रहा होता। उसकी दृष्टि तो बहुत आगे तक देख रही होती है। मैं ऐसे अनेक लोगों को जानता हूँ जिन्होंने श्री स्वामीजी के निर्देशों का पालन किया और जीवन में सफल हुए। और ऐसे भी अनेक लोग हैं जिन्होंने श्री स्वामीजी के सलाह-निर्देश पर संदेह किया और अधोगति को प्राप्त हुए। उनकी प्रगति या अधोगति इस बात से निर्धारित हुई कि उनकी सोच-समझ कितनी स्पष्ट थी।

यदि तुम्हारा मन्तव्य स्पष्ट है तो तुम्हारी सफलता निश्चित है। लेकिन अगर तुम्हारा मन दिग्भ्रमित है, अगर तुम आध्यात्मिक जागृति के साथ-साथ सांसारिकता में भी लिप्त रहना चाहते हो और अपने इस भ्रमित प्रयास को समन्वित या संश्लेषित योग जैसा लम्बा-चौड़ा नाम देते हो, तो तुम धोबी के कुत्ते की तरह न घर के रहोगे, न घाट के। आखिर तुम्हारे प्रयास और प्रार्थनाएँ दृढ़ और प्रभावी कैसे बनते हैं? तुम्हारी संकल्प शक्ति से। लेकिन एक अस्पष्ट मानसिकता से कभी दृढ़ संकल्प शक्ति पैदा नहीं हो सकती।

मिलारेप्पा का मुमुक्षुत्व

तुमने मिलारेप्पा की कहानी सुनी होगी। मिलारेप्पा अपने गुरु मारपा के पास आध्यात्मिक शिक्षा प्राप्त करने के उद्‌देश्य से गए थे। लेकिन गुरु ने कहा, 'नहीं, जब तक तुम मेरे साथ हो, कड़ी मेहनत करोगे। तुम क्या काम जानते हो?' मिलारेप्पा ने कहा, 'मुझे भवन-निर्माण का थोड़ा अनुभव है।' मारपा ने कहा, 'तो फिर मेरे लिए उस पहाड़ी पर एक कुटिया बना दो। कुटिया के लिए पत्थर तुम्हें नीचे घाटी से लाने होंगे।' मिलारेप्पा अपनी पीठ पर बड़े-बड़े पत्थर लादकर ऊपर ले जाता रहा और धीरे-धीरे उसने कुटिया बना डाली। जब कुटिया तैयार हो गई तो गुरु उसका निरीक्षण करने आए। कुटिया को देखकर उन्होंने कहा, 'नहीं, मुझे यह जगह पसन्द नहीं। पहाड़ी की बजाय मुझे घाटी पसन्द है। तुम इस कुटिया का एक-एक पत्थर निकालकर नीचे ले जाओ और वहाँ इसे दुबारा बनाओ।'

मिलारेप्पा तो आध्यात्मिक मार्गदर्शन और शिक्षा के लिए आया था। लेकिन उसके गुरु ने उसे पत्थर ढोने और मकान बनाने के काम में लगा दिया। जब मकान बन गया तो गुरु ने कहा कि मुझे मकान का स्थान पसन्द नहीं, इसे बदल दो। इस प्रकार गुरु ने मिलारेप्पा की परीक्षा ली, लेकिन मिलारेप्पा ने ऐसा कभी नहीं सोचा कि मेरे गुरु मेरे साथ दुर्व्यवहार कर रहे हैं, मेरी योग्यताओं का दुरुपयोग कर रहे हैं। उसने यह नहीं सोचा कि मैं जिस प्रयोजन से यहाँ आया था, वह पूरा नहीं हो रहा है। जब तुम आध्यात्मिक मनोरथ लेकर गुरु के पास जाते हो तब मिलारेप्पा की तरह अपने आप को पूर्णतया गुरु के हाथों में सौंप देना चाहिए।

मिलारेप्पा मुमुक्षु स्वभाव का था। 'मैं आत्म-ज्ञान प्राप्त करना चाहता हूँ', उसके भीतर यही भाव प्रबल था। ऐसे शिष्यों के लिए गुरु मात्र बाह्य स्तर पर निर्देश देने वाला व्यक्ति नहीं, बल्कि सर्वस्व होता है। गुरु उनके जीवन का नियंता बन जाता है। यहाँ तक कि अगर गुरु उनसे कहे कि ध्यान का अभ्यास छोड़कर रोज दण्ड-बैठक लगाओ तो यही उनकी साधना बन जाती है और दिनभर दण्ड-बैठक लगाने से ही वे आत्म-साक्षात्कार प्राप्त कर लेते हैं। शिष्य में इस प्रकार की श्रद्धा होनी चाहिए। मिलारेप्पा में ऐसी श्रद्धा थी, इसलिए वह सफल हुआ। अगर तुम मिलारेप्पा की जगह होते तो क्या सोचते? 'मैं यहाँ छः महीने का वीसा लेकर आया हूँ कुछ सीखने के लिए, लेकिन यहाँ तो मुझसे सिर्फ कर्मयोग करवाया जा रहा है। यह अच्छी जगह

नहीं है। मैं किसी दूसरी जगह जाकर गहन ध्यान का अभ्यास करूँगा। किसी सिद्ध गुरु से मिलकर गूढ़ आध्यात्मिक रहस्य प्राप्त करूँगा', तुम्हें कुछ इसी प्रकार के विचार आयेंगे। यह बात तुम सब पर लागू होती है।

ग्रहणशीलता के स्तर

आर्त और अर्थार्थी, जिज्ञासु और मुमुक्षु, इन वर्गों में भी ग्रहणशीलता के अनुसार अलग-अलग स्तर होते हैं। तुम अपने गुरु के निर्देशों और उपदेशों के प्रति कितने सजग और ग्रहणशील हो? हमारे परमगुरु, स्वामी शिवानन्द जी ने ग्रहणशीलता के आधार पर शिष्यों का चार श्रेणियों में वर्गीकरण किया है।

पेट्रोल–स्वामी शिवानन्द जी के अनुसार सर्वोत्तम शिष्य पेट्रोल की तरह होता है। एक छोटी-सी चिंगारी पड़ी नहीं कि पेट्रोल भभक पड़ता है। एक छोटा-सा निर्देश शिष्य के जीवन को पूरी तरह रूपान्तरित कर देता है, क्योंकि चिंगारी और पेट्रोल के बीच कोई अवरोध नहीं होता। जैसे ही चिंगारी का पेट्रोल से स्पर्श होता है, तत्काल ही ऊँची लपटें उठने लगती हैं। शिष्य की तरफ से कोई प्रतिरोध नहीं रहता, बल्कि पूर्ण समर्पण का भाव रहता है। ऐसी स्थिति में गुरु कृपा की एक चिंगारी शिष्य का पूरा जीवन बदल डालती है। इसलिए पेट्रोल के समान शिष्यों की श्रेणी सर्वश्रेष्ठ है।

कपूर–शिष्यों की दूसरी श्रेणी कपूर की तरह होती है। कपूर जलने के लिए तत्पर होता है, केवल आग की आवश्यकता होती है। ऐसे शिष्य का चित्त शुद्ध होता है, मन शांत होता है, उसकी कोई अपेक्षाएँ या कामनाएँ नहीं होतीं, और वह समर्पण के लिए तैयार होता है। गुरु की कृपा उस कपूर रूपी शिष्य को त्वरित ही प्रज्वलित कर देती है।

कोयला–तीसरी श्रेणी कोयले के समान है। कोयले को जलाना बहुत मुश्किल होता है। इसके लिए धधकती हुई आग चाहिए, ऊपर से पंखा झुलाकर हवा देनी पड़ती है। पंखा झुलाए बगैर कोयला आग नहीं पकड़ता। इसी तरह जब तक गुरु पंखा झुलाकर तुम्हारी खुशामद नहीं करते, तुम आगे नहीं बढ़ते।

ऐसे अनेक शिष्य होते हैं जो यह अपेक्षा रखते हैं कि गुरु उनसे काम करवाने के लिए उनकी खुशामद करें। वे कहेंगे, 'मैं यह काम तब तक नहीं करूँगा जब तक गुरुजी स्वयं मुझसे नहीं कहेंगे।' ऐसे लोगों की खुशामद

करनी पड़ती है, उन्हें कहना पड़ता है, 'अच्छा, ठीक है। दूसरों की परवाह मत करो, यह काम कर दो और पूरा होने पर सीधा मुझे आकर बताओ', बेवजह खुशामदी। तुम चुपचाप सीधे-सीधे काम क्यों नहीं कर सकते? तुम यह अपेक्षा क्यों रखते हो कि गुरु तुम्हारे पीछे लगे रहें, तुम्हारी खुशामद करें, तुम्हारे अहंकार और महत्त्वाकांक्षाओं को पुष्ट करें?

जब गुरु तुम्हारे लिए पंखा नहीं झुलाते, तुम्हारी खुशामद नहीं करते, तब तुम इस तरह की प्रतिक्रियाएँ करते हो। इस तरह के सब लोग कोयले की तरह होते हैं। और कोयला हीरा तो है नहीं। अगर वह ठीक से नहीं जल पाता तो उसे फेंक देना ही बेहतर है।

केले का पेड़–शिष्यों की चौथी श्रेणी केले के तने की तरह होती है। केले के तने को धधकती आग में झोंकने से भी वह आग नहीं पकड़ेगा। वह थोड़ा-सा झुलस जरूर जायेगा, लेकिन आग कभी नहीं पकड़ेगा, क्योंकि उसमें पानी भरा है। इस श्रेणी का शिष्य ऐसा व्यक्ति होता है जिसके अंदर इच्छा और वासना रूपी जल भरा पड़ा है। उसके लिए गुरु उन इच्छाओं की पूर्ति का साधन मात्र है। ऐसे लोग गुरु के निर्देशों का बिल्कुल पालन नहीं करते, फिर भी अपने आप को शिष्य कहते फिरते हैं। उल्टा वे गुरु को निर्देश देने का प्रयास करते हैं। वे चाहते हैं कि गुरु उनकी बात माने, उनके निर्देशानुसार कार्य करे। ऐसे लोगों की कमी नहीं, जो गुरु के व्यक्तिगत



सलाहकार बनने की कोशिश करते हैं, और परिस्थितियों को अपने स्वार्थ की दिशा में मोड़ना चाहते हैं। वासनाओं से भरे ये शिष्य बिल्कुल केले के पेड़ की तरह होते हैं।

उनमें से कुछ ऐसे भी हो सकते हैं जिनमें वासनाएँ उतनी नहीं हैं। वे गुरु की बात भी मानते हैं, लेकिन आध्यात्मिक और सांसारिक, दोनों तरह का जीवन चाहते हैं। ऐसे लोग उस किसान की तरह होते हैं जो आज जमीन में आम का बीज बोता है और हर दिन उसको निकालकर देखता है कि वह अंकुरित हुआ या नहीं। जो शिष्य अपनी उपलब्धि को बार-बार परखना चाहता है, वह कोयले के समान होता है। उसको पूर्ण रूप से जलने हेतु बहुत परिश्रम करना पड़ता है। उसे जलाने के लिए गुरु को भी बहुत मेहनत करनी पड़ती है।

अपनी पहचान खोजो

तुम केले के पेड़ हो या कोयला या कपूर या पेट्रोल, इसका निर्णय तुम्हें लेना है। अगर तुम्हारे अन्दर ढेरों वासनाएँ हैं और गुरु केवल उन वासनाओं की पूर्ति का माध्यम है तब तुम केले के पेड़ हो। अगर तुम अपने अहंकार, घमण्ड और हठ के कारण गुरु के साथ सही सम्बन्ध नहीं जोड़ पाते, तब तुम कोयले की तरह हो। कोयला भीतर और बाहर, दोनों ओर से काला होता है। वैसे ही तुम्हारा मन भी काला है और दिल भी। तुम्हारा अहंकार प्रबल है और वह तुम्हारे विकास में बाधक होता है।

केले और कोयले वर्ग के शिष्य आर्त और अर्थार्थी की श्रेणी में आते हैं। आर्त और अर्थाथी मनुष्य ही कोयले और केले की तरह कठोर और अपनी इच्छाओं-वासनाओं से भरे होते हैं। जिज्ञासु मनुष्य कपूर की तरह होता है और मुमुक्षु पेट्रोल की तरह। इन दो श्रेणियों के चेलों के साथ गुरु बड़ी सरलता से काम कर सकते हैं। देखा जाए तो वास्तव में शिष्य यही लोग बनते हैं, क्योंकि इनकी खोपड़ी नहीं होती। अर्जुन का एक वक्तव्य आता है गीता (2:7) में–

शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ।

अर्जुन श्री कृष्ण से कहता है कि मैं अपना सिर यानि अपनी बुद्धि, अपना मन तुमको समर्पित करता हूँ, अब तुम्हीं बताओ क्या रास्ता है।

जिज्ञासु और मुमुक्षु की खोपड़ी नहीं होती, वासनाएँ नहीं होतीं, अहंकार नहीं होता। ये पेट्रोल और कपूर रूपी शिष्य गुरु की चिंगारी से तुरंत प्रज्वलित हो जाते हैं।

इस विषय पर चर्चा का मेरा उद्देश्य शिष्य के धर्म, कर्त्तव्य, जीवनशैली तथा गुरु के साथ सम्बन्ध का निरूपण करना है। इस सन्दर्भ में तुम्हें सबसे पहले अपने आप से कुछ प्रश्न करने हैं–'क्या मैं आर्त शिष्य हूँ? यदि हाँ, तो वह कौन-सा दु:ख है जिससे मैं पीड़ित हूँ?' 'क्या मैं अर्थार्थी शिष्य हूँ? क्या मेरी कुछ ऐसी आवश्यकताएँ, अपेक्षाएँ और महत्त्वाकांक्षाएँ हैं जिन्हें पूरा करने के बाद ही मैं आध्यात्मिक जीवन में अगला कदम बढ़ा सकता हूँ?' तुम्हें अपने मूल स्वभाव के विरुद्ध नहीं जाना चाहिए, कुछ ऐसा बनने का प्रयास नहीं करना चाहिए जो तुम्हारे मूल स्वभाव के विपरीत है। अगर तुम ऐसा करोगे तो तुम्हें कभी-न-कभी पुराने स्तर पर लौटकर आना होगा, क्योंकि तुमने उस स्तर के कर्मों और संस्कारों को पूरा नहीं किया। और अगर पिछले दो प्रश्नों का उत्तर नकारात्मक है तो जानने की कोशिश करो कि क्या तुम वास्तव में एक जिज्ञासु या मुमुक्षु शिष्य हो।

यदि तुम जिज्ञासु या मुमुक्षु प्रकृति के हो तो तुम्हारी कोई भौतिक, सांसारिक अपेक्षा नहीं होगी। गुरु के सामीप्य और सान्निध्य तक की अपेक्षा नहीं रहेगी। लेकिन अगर तुम आर्त या अर्थार्थी शिष्य हो तो तुम गुरु का सान्निध्य चाहोगे। सान्निध्य की इच्छा केवल निर्भरता और परावलम्बन को बढ़ावा देती है। कुछ शिष्य ऐसा मानते हैं कि गुरु के निकट सान्निध्य में रहने से अन्य लोग सोचेंगे कि मैं गुरु का बहुत करीबी और विशिष्ट शिष्य हूँ, जिसका गुरु बहुत ख्याल रखते हैं। ऐसे शिष्यों के साथ गुरु का सान्निध्य निकटता नहीं, निर्भरता दर्शाता है। गुरु के साथ वास्तविक निकटता उनकी उपस्थिति में नहीं, बल्कि उनसे दूर रहने पर अनुभव होती है। गुरु की शारीरिक अनुपस्थिति में ही शिष्य की भावना प्रगाढ़ होती है।

गुरु की उपस्थिति में रहने का प्रयोजन

जब मैं अपने जीवन का अवलोकन करता हूँ तो पाता हूँ कि मैं छ: वर्ष की अवस्था में आश्रम में स्थायी रूप से रहने के लिए आया था। उस समय मेरे मन में क्या विचार थे? क्या मैं आत्म-ज्ञान पाना चाहता था? नहीं। क्या मैं किसी दु:ख-तकलीफ से पीड़ित था? नहीं। क्या मेरी कोई स्वार्थपरक










BIHAR YOGA







कामना या महत्त्वाकांक्षा थी? नहीं। मन में एक ही विचार था, 'मैं अपने गुरु के पास रहना चाहता हूँ।' और मेरा ही नहीं, बल्कि उस समय आश्रम आने वाले अधिकतर लोगों का ऐसा ही विचार था। 'हमें अपने गुरु के साथ रहना है', बस यही विचार लेकर हम सब आये थे।

योग सीखने या सिखाने की हमारी कोई चाह या महत्त्वाकांक्षा नहीं थी। देश-विदेश यात्रा करने और एक प्रतिष्ठित व्यक्ति के रूप में माने जाने की भी कोई अपेक्षा नहीं थी। हमारी तो बस यही मनोकामना थी कि हम उस व्यक्ति के सान्निध्य में रहें जिसे हम अपना गुरु मानते हैं और जो हमारे जीवन का मुख्य आकर्षण हैं। उस व्यक्ति से हमारी अन्य कोई अपेक्षा नहीं थी। हम गुरु पर भावनात्मक रूप से निर्भर नहीं थे, बल्कि उनकी आध्यात्मिक ऊर्जा का प्रभाव ही हमें यहाँ खींच लाया था। हम मुमुक्षु प्रकृति के थे, हालाँकि उस समय हमें यह मालूम नहीं था।

जब श्री स्वामीजी हमसे कुछ काम करने को कहते, तो हम उसे तुरन्त कर देते। जब करने के लिए कुछ काम नहीं होता, तो कुछ नहीं करते। कोई कामना, इच्छा, महत्त्वाकांक्षा या वासना नहीं थी कि 'ऐसा हो जाए' या 'मैं ऐसा करना चाहता हूँ।' नहीं, एकदम सरल जीवन था।

हमारा जीवन सरल तो था, लेकिन आसान नहीं। हमें बहुत संघर्ष करना पड़ता था। आज तुम लोगों के सामने एक समृद्ध आश्रम खड़ा है, लेकिन जब हम लोग आए थे तब पहनने के लिए कपड़े नहीं थे, खाने के लिए भोजन नहीं था। अन्य स्वामियों के साथ मैं मुंगेर बाजार जाया करता था और वहाँ लोगों द्वारा फेंके गए सब्जी के टुकड़ों को उठाता था। वे टुकड़े आदमियों और जानवरों के पैरों तले रौंदे हुए होते, लेकिन हम उन्हें इकट्ठा कर आश्रम लाते, साफ करते, सड़े-गले हिस्सों को फेंक देते और बचे हुए भाग को पकाकर खाते। महीनों तक हमें नमक या चीनी का स्वाद नसीब नहीं होता था। अगर किसी दिन नमक रहता तो वह हमारे लिए भोज होता।

मैंने इस प्रकार का जीवन जीया है। और उन सभी संन्यासियों ने भी जो यहाँ आरम्भिक दिनों में आए। हम आर्त शिष्य नहीं थे, हमें कोई दु:ख या कष्ट नहीं था। हम अर्थार्थी नहीं थे, हमारी कोई कामना या स्वार्थ नहीं था। हम जिज्ञासु भी नहीं थे, क्योंकि हमारे मन में कोई प्रश्न ही नहीं थे। हम केवल अपने गुरु के सान्निध्य में रहना चाहते थे। हम लोगों को संघर्षों

और अभावों के बावजूद कोई संताप नहीं होता था, क्योंकि हमारे जीवन का अंतिम लक्ष्य और प्रयोजन हमारे सामने था।

अगर अभी आश्रम में एक सप्ताह तक लगातार खिचड़ी बनाई जाए, अधिकतर लोग आश्रम छोड़कर चले जाएँगे। वे कहेंगे, 'यहाँ किस तरह का खाना मिल रहा है? एकदम बेकार जगह है। चलो, कहीं और चलें।' इसका मतलब यह हुआ कि तुम गुरु की बजाय भोजन के साथ अपने सम्बन्ध को ज्यादा अहमियत देते हो। यदि भोजन तुम्हारे निर्णय को बदल सकता है, अगर किसी का व्यवहार तुम्हारी मानसिकता को प्रभावित कर तुम्हें नकारात्मक, दम्भी और क्रोधी बना देता है, या तुम्हारा परिवेश तुम्हें असंतुलित बना देता है तो इसका मतलब तुम खरे शिष्य नहीं हो, क्योंकि तुम्हारी मानसिकता, तुम्हारा ध्येय स्पष्ट नहीं है। तुम आर्त या अर्थार्थी श्रेणी के व्यक्ति हो।

शिष्यत्व को सिद्ध करना आसान नहीं हैं। लेकिन अगर तुम अपने आप को पूरी तरह समर्पित कर सको, तो यह बहुत सरल हो जाता है।

यहाँ कई तरह के लोग आते हैं। किसी से पूछो, 'तुम आश्रम क्यों आए हो?' तो वह कहेगा, 'मैं योग सीखने आया हूँ।' 'क्यों?' 'ताकि मैं योग शिक्षक बन सकूँ।' किसी अन्य व्यक्ति से यही सवाल पूछो तो जवाब मिलेगा, 'ताकि मैं संन्यास ले सकूँ।' 'क्यों?' 'तब मैं बाहर जाकर सबको योग सिखा सकूँगा।' इसका मतलब यह हुआ कि वास्तव में तुम शिष्य नहीं, गुरु बनना चाहते हो। आजकल सभी की यही मानसिकता है–'आपसे संन्यास दीक्षा लेने के बाद मैं बाहर जाकर सबसे कहूँगा कि मैं गुरु बन गया हूँ।' हर कोई स्वार्थी और अभिमानी है।

अगर मन साफ हो, हृदय शुद्ध हो, तो गुरु के साथ हमारा सम्बन्ध, गुरु के प्रति हमारा दृष्टिकोण बिल्कुल अलग होगा। यह एक प्रेरक, प्रबोधक सम्बन्ध होगा, निर्भरतापूर्ण सम्बन्ध नहीं। लेकिन ऐसा करने के लिए हमें शिष्य की साधना, जीवनशैली और गुरु के साथ सम्बन्ध को अच्छी तरह समझना होगा।



शिष्यत्व में पदार्पण

7 अगस्त 2010

सारांश

मनुष्यों को चार श्रेणियों में बाँटा जा सकता है, और चारों अन्ततोगत्वा गुरु के पास पहुँचते हैं। लेकिन हर मनुष्य अपने मन में एक विशेष प्रयोजन लेकर आता है और इसलिए सबसे पहले हमें उन प्रयोजनों को समझना होगा।

पहली श्रेणी के मनुष्य आर्त हैं, जिनके जीवन में सुख, शान्ति, आराम और आनन्द का पूर्णतया अभाव है। केवल संघर्ष है, शारीरिक, मानसिक और सामाजिक। जीवन के हर मोड़ पर वे दुःख और कष्ट झेल रहे हैं। अपने कष्टों से छुटकारा पाने के लिए वे गुरु से मार्गदर्शन चाहते हैं। गुरु के साथ उनके सम्बन्ध का एकमात्र प्रयोजन दुःखों से निवृत्ति है, ताकि वे एक सुखी और आरामदायक जीवन व्यतीत कर सकें, बेहतर जिन्दगी जी सकें। आर्त मनुष्य की यही परिभाषा है।

दूसरी श्रेणी अर्थार्थी व्यक्तियों की है, जो स्व-केन्द्रित और स्वार्थपरक मानसिकता वाले होते हैं। वे उस बच्चे की तरह होते हैं जो किसी खिलौने की दुकान में जाकर कहता है, 'मुझे यह भी चाहिए, वह भी चाहिए, सब कुछ चाहिए।' अर्थार्थी व्यक्ति की मानसिकता व्यापारी की तरह होती है। उसकी नजर इसी बात पर रहती है कि किसी व्यक्ति या परिस्थिति से अधिकतम लाभ कैसे प्राप्त किया जाए। तुम सब अर्थार्थी हो। तुम्हारा सम्बन्ध व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षाओं पर आधारित है, चाहे वह आकांक्षा नाम, यश-कीर्ति, पद-प्रतिष्ठा या धन-सम्पत्ति की हो या अन्य किसी चीज की।

अपना मनोरथ सिद्ध हो जाने पर अर्थार्थी व्यक्ति बहुत सुख और आराम का अनुभव करते हैं। उन्हें अपनी महत्त्वाकांक्षाओं की पूर्ति से ही तुष्टि



मिलती है। इस श्रेणी के व्यक्ति भी गुरु के पास मार्गदर्शन के लिए आते हैं, लेकिन उनका उद्देश्य सिर्फ अपनी इच्छा-पूर्ति तक सीमित रहता है। गुरु के आदेश, शिक्षा और मिशन से उनका कोई सरोकार नहीं रहता। देखा जाए तो यह अपनी जगह ठीक है। मैं इसे अनुचित नहीं मानता। आखिर जब दु:ख से निवृत्ति हमारे जीवन की आवश्यकता है, तब क्यों न आर्त या अर्थार्थी भाव से गुरु की शरण में जाएँ? इसलिए तो उपनिषदों में कहा गया कि जो व्यक्ति भौतिक अभावों से अपने आप को मुक्त करना चाहता है, भौतिक संपदा को प्राप्त करना चाहता है, वह भी गुरु के पास जाए।

गुरु ऐसे लोगों के सोये हुए भाग्य को जगाने के लिए एक आधार बन जाते हैं। कुछ लोगों का भाग्य जगा रहता है, लेकिन बहुतों का सोया रहता है। जिनका भाग्य जगा है, वे तो सफलता के सोपान पार करते जाते हैं, लेकिन जिनका भाग्य सोया है, वे बेचारे हाथ-पैर मारते रहते हैं। कभी लगता है कि हम अपने लक्ष्य के समीप पहुँच रहे हैं, लेकिन फिर पाते हैं कि हम तो अभी पहले कदम में ही फँसे हुए हैं।

ऐसे लोग गुरु की शरण में जाते जरूर हैं, लेकिन वे शिष्य नहीं कहलाते, इस बात को याद रखना। उनके भीतर श्रद्धा और भक्ति है, वे अपने जीवन को सुधारना चाहते हैं, इसलिए गुरु के पास जाते हैं। लेकिन वे शिष्य नहीं

हैं, क्योंकि वे शिष्यत्व की साधना नहीं करते। वे भक्ति की साधना करते हैं, अपने जीवन में श्रद्धा को जाग्रत करते हैं, गुरुजी द्वारा बतलाए गए मंत्र, आसन, प्राणायाम वगैरह का अभ्यास करते हैं, लेकिन उनका जो लक्ष्य है वह अपने से जुड़ा हुआ है, स्व से जुड़ा हुआ है, 'मुझे यह चाहिए।'

तीसरी श्रेणी जिज्ञासु की है, जिसे जीवन में न सुख दिखाई देता है, न शान्ति। बस, एक खालीपन का आभास होता है। इस खालीपन को कैसे दूर किया जाए, जीवन में आनन्द कैसे लाया जाए, वह इस चीज की तलाश कर रहा है। 'मैं यह जानना चाहता हूँ कि संसार से मेरा क्या सम्बन्ध है, जीवन में मेरी क्या भूमिका है, मैं अपने जीवन को कैसे सुधार सकता हूँ, कैसे आध्यात्मिक प्रगति कर सकता हूँ।' जिज्ञासु की ऐसी मानसिक अवस्था होती है। जिज्ञासु के गुरु के पास आने का उद्‌देश्य भौतिक नहीं, बल्कि व्यक्तिगत और आध्यात्मिक होता है। इसलिए गुरु के साथ उसका सम्बन्ध आर्त या अर्थार्थी से अलग होता है।

चौथे प्रकार का मनुष्य मुमुक्षु है, जो मुक्ति चाहता है। अनेक साधक मोक्ष की आकांक्षा रखते हैं, लेकिन उन्हें मोक्ष की सही समझ नहीं होती। मोक्ष, मुक्ति या आत्म-साक्षात्कार जीवन में संतुलित आचार, विचार और व्यवहार का परिणाम है। यह एक परिणाम है, प्रयोजन नहीं। जीवन का प्रयोजन तो आध्यात्मिक चेतना को धीरे-धीरे, दिन-पर-दिन विकसित करना है। यही जीवन का वास्तविक लक्ष्य है। जैसे-जैसे हम अपनी आध्यात्मिक सजगता का विस्तार करते जाते हैं, संसार के प्रति अपने दृष्टिकोण और अपनी समझ को परिपक्व बनाते जाते हैं, वैसे-वैसे हम मानसिक और आध्यात्मिक सामंजस्य प्राप्त करते हैं और इसी के परिणामस्वरूप हमें ईश्वर-साक्षात्कार या आत्म-साक्षात्कार की अवस्था का अनुभव होता है। तो मुमुक्षु का तात्पर्य उस मनुष्य से है जो मुक्ति चाहता है, जो आध्यात्मिक चेतना विकसित करना चाहता है, जो आध्यात्मिक आयाम की खोजबीन करना चाहता है। भौतिक आयाम उसे बाँधकर नहीं रख सकता। उसके भीतर मुक्त होने की प्रबल इच्छा है।

एक बार एक व्यक्ति रामकृष्ण परमहंस के आश्रम में आया और उनसे कहने लगा, 'मुझे कोई तरीका बतलाइये जिससे मैं अपनी आत्मा का साक्षात्कार कर सकूँ।' रामकृष्ण परमहंस ने कुछ नहीं कहा। उस व्यक्ति ने जोर देकर अपनी बात को दुहराया, 'मुझे मोक्ष की गहरी चाह है, कृपया मुझे

इसका मार्ग बतलाइये।' तब रामकृष्ण परमहंस ने कहा, 'ठीक है, नदी में स्नान करके आओ।' उस आदमी ने सोचा, 'बड़ा विचित्र निर्देश है ठाकुर का। क्या वे मुझे स्नान के बाद शक्तिपात देना चाहते हैं?' खैर, वह नदी तक गया जरूर।

जब उसने नदी के जल में प्रवेश किया तो देखा कि रामकृष्ण परमहंस भी उसके पीछे-पीछे आए हैं और वे भी जल में उतर रहे हैं। वह बहुत खुश हुआ। उसे लगा कि मैं ठाकुर का पट्ट शिष्य हूँ, क्योंकि वे मेरे साथ स्नान करने आये हैं। स्नान करते हुए अचानक रामकृष्ण परमहंस उस व्यक्ति के कंधों पर कूद पड़े और उसका सिर पानी में डुबा दिया। वह व्यक्ति छटपटाने लगा और पानी से बाहर निकलने के लिए घोर संघर्ष करने लगा। थोड़ी देर बाद रामकृष्ण ने उसे छोड़ दिया और पूछा, 'तुम्हें अब कैसा लग रहा है? मुक्ति मिल गई?' उस व्यक्ति ने कहा, 'आप पागल तो नहीं हो गए, आपने तो मुझे पानी में डुबा ही दिया था।' रामकृष्ण ने पूछा, 'जब तुम डूब रहे थे, तब तुम्हें कैसा अनुभव हो रहा था?' उसने कहा कि उस समय मेरी एकमात्र इच्छा पानी से बाहर निकलकर साँस लेने की हो रही थी। रामकृष्ण ने उससे कहा, 'जब तुम्हारी मोक्ष की अभिलाषा भी इतनी ही प्रबल हो जाएगी तब तुम आसानी से संसार के बन्धनों से मुक्त हो सकोगे।'

जब तक हमारे प्रयासों में तीव्रता और तन्मयता नहीं आती, हम किसी भी प्रयोजन में सफल नहीं हो सकते। मुमुक्षु में संसार के बन्धनों से मुक्त होने की तीव्र अभिलाषा होती है। संसार के प्रलोभन और सम्बन्ध उसके लिए कोई आकर्षण नहीं रखते। वे तो केवल समय बिताने का बहाना होते हैं। जब सही मार्ग मिल जाता है तब मुमुक्षु महात्मा बुद्ध की तरह सब कुछ छोड़ देता है।

महात्मा बुद्ध ने रात के अंधकार में सब कुछ त्याग दिया। उन्होंने अपने बन्धु-बान्धवों को अलविदा कहने के लिए सुबह का इन्तजार नहीं किया, क्योंकि वे उनके लगाव और आसक्ति में फँसना नहीं चाहते थे। उन्होंने रात में ही अपनी सोती हुई पत्नी और बच्चे को, अपने घर-परिवार और राज्य को त्याग दिया। कोई उन्हें रोक नहीं पाया। कोई यह न कह सका, 'तुम कहाँ जा रहे हो, कैसे रहोगे, क्या करोगे? मत जाओ।' मुक्ति की ऐसी तीव्र इच्छा का होना ही मुमुक्षुत्व है। जब ऐसी इच्छा जागती है तब संसार के बन्धन अपने आप छूटते जाते हैं। किसी के साथ शारीरिक, मानसिक या भावनात्मक

स्तर पर आसक्ति नहीं रहती। पति, पत्नी, बच्चे, घर, परिवार और समाज का आसानी से त्याग किया जा सकता है। मुमुक्षुत्व की अवस्था में उनसे कोई सरोकार नहीं रहता। केवल प्रकाश और ज्ञान के स्रोत को अपने भीतर खोजने की उत्कट अभिलाषा होती है।

गुरु के साथ प्रारम्भिक सम्बन्ध

चारों श्रेणियों के व्यक्ति गुरु के पास शिक्षा, मार्गदर्शन, प्रेरणा और प्रशिक्षण के लिए आते हैं। प्रारम्भ में वे सभी समान शिक्षा पाते हैं। चारों श्रेणियाँ प्राथमिक कक्षा में प्रवेश पाती हैं, जहाँ वे अपनी समझ, श्रद्धा, विश्वास एवं प्रेम की वृद्धि तथा अभिव्यक्ति करना सीखती हैं। अपने प्रेम, श्रद्धा और विश्वास के बल पर ही वे गुरु के साथ एक सम्बन्ध जोड़ पाते हैं।

आर्त व्यक्ति सोचता है कि गुरु उसके दु:खों को दूर करने में सहायता करेंगे। ऐसा उसका विश्वास है, और इसी के बल पर वह गुरु कृपा प्राप्त करता है। विश्वास के कारण ही वह गुरु के निर्देशों का पालन कर पाता है। अर्थार्थी व्यक्ति भी विश्वास से युक्त होकर आता है। जब उसकी इच्छाएँ पूरी होती हैं तब उसका विश्वास और गहरा हो जाता है।

जब तुम भगवान से प्रार्थना करते हो और वे तुरन्त तुम्हारी कामना पूरी कर देते हैं, तब समझो वे तुम्हारे विश्वास को बढ़ा रहे हैं। जब तुम भगवान से प्रार्थना करते हो और वे तुम्हारा मनोरथ कई महीनों बाद पूरा करते हैं, तब मानो कि वे तुम्हारे धैर्य की परीक्षा ले रहे हैं। जब तुम भगवान से प्रार्थना करते हो, लेकिन वे तुम्हारी इच्छा पूरी नहीं करते, तब इसका मतलब यह कि भगवान जानते हैं कि तुम अपनी वह कामना स्वयं पूरी कर सकते हो, तुम्हें भगवत्-कृपा की आवश्यकता नहीं। इसी प्रकार हम सभी गुरु से मार्गदर्शन के लिए प्रार्थना करते हैं। व्यक्ति, यहाँ मैं शिष्य शब्द का प्रयोग नहीं कर रहा हूँ, और गुरु के बीच जो सम्बन्ध विकसित होता है, वह श्रद्धा, विश्वास और भक्ति पर आधारित होता है।

श्रद्धा, विश्वास और भक्ति–ये व्यक्ति के आंतरिक जीवन में जागृति के द्योतक हैं, और इन्हें पूरी तरह विकसित किया जाना चाहिए। लेकिन अगर व्यक्ति का प्रयोजन भौतिक सुख-संपदा है, जैसे आर्त और अर्थार्थी का होता है, तो फिर वह इन्हीं तक सीमित रहेगा। उसका शिष्यत्व भी इसी स्तर तक रहेगा, इसके आगे नहीं जाएगा।

जिज्ञासु और मुमुक्षु भी गुरु के साथ सम्बन्ध जोड़ते हैं, श्रद्धा, विश्वास, प्रेम और भक्ति के साथ। लेकिन चूँकि उनके जीवन का लक्ष्य भौतिक की अपेक्षा आध्यात्मिक होता है, इसलिए गुरु के साथ एक उच्चतर और गहनतर सम्बन्ध जोड़ने की सम्भावना अधिक रहती है। यह सम्भावना तभी साकार होती है जब व्यक्ति शिष्य धर्म का अनुसरण करता है। केवल जिज्ञासु और मुमुक्षु ही शिष्य धर्म का निर्वहन कर पाते हैं, आर्त और अर्थार्थी नहीं, क्योंकि उनके जीवन में गुरु की भूमिका सीमित होती है। उनकी आकांक्षाएँ आध्यात्मिक होने की बजाय सांसारिक होती हैं।

आर्त और अर्थार्थी श्रद्धा, विश्वास और भक्ति से युक्त होकर गुरु से सम्बन्ध तो जोड़ते हैं, पर उस सम्बन्ध में निर्भरता रहती है। वे गुरु को माता, पिता, भाई या सखा के रूप में देखते हैं, गुरु उनके जीवन की कमी को दूर करने का माध्यम बन जाता है। इसलिए उनकी प्रार्थना रहती है - त्वमेव माता च पिता त्वमेव, त्वमेव बन्धुश्चसखा त्वमेव। गुरु पर आश्रित व्यक्ति का ऐसा ही दृष्टिकोण रहता है।

जिज्ञासु या मुमुक्षु इस प्रकार गुरु पर आश्रित नहीं होते। वे गुरु के सार-तत्त्व, उनकी मौलिक गुणवत्ता को देखते हैं और उसी में आनन्द लेते हैं, उसी



से प्रेरणा ग्रहण करते हैं। अपने स्वभाव, विचार और व्यवहार को परिष्कृत करने के लिए वे गुरु की शिक्षाओं को अपने जीवन में उतारते हैं। वे अपनी इच्छाओं, कामनाओं, वासनाओं और अहंकार की अंतहीन अभिव्यक्तियों के पार जाने का प्रयास करते हैं।

आर्त और अर्थार्थी के लिए अपने अहंकार का अतिक्रमण करना आवश्यक नहीं। वे अपने अहंकार को बनाए रख सकते हैं। वे अभिमानी, दम्भी और घमण्डी हो सकते हैं, कैसे भी हो सकते हैं। बस, उनमें श्रद्धा, विश्वास, प्रेम और भक्ति की भावना होनी चाहिए। लेकिन जिज्ञासु और मुमुक्षु को अपने शिष्यत्व-विकास के क्रम में सबसे पहले अपने अहंकार का सामना करना पड़ता है और उन अड़चनों से जूझना पड़ता है जो अहंकार खड़ी करता है। इस प्रक्रिया से गुजरने के बाद जिज्ञासु और मुमुक्षु शिष्य-धर्म निभाने योग्य हो जाते हैं।

शिष्यत्व का प्रारम्भ

जब तक व्यक्ति में केवल श्रद्धा, विश्वास, प्रेम और भक्ति हैं, तब तक वह शिष्यत्व की एक भिन्न श्रेणी में आता है। वह किसी प्रयोजन की सिद्धि के लिए गुरु के पास आता है और उसी के अनुसार एक सम्बन्ध बनाता है। इस स्तर पर व्यक्ति का सम्बन्ध तीन तरह का हो सकता है–ढेला, ठेला या फिर चेला।

एक ढेले, एक पत्थर के टुकड़े का क्या स्वभाव होता है? वह एक ही जगह पर पड़ा रहता है। अगर तुम उसे किसी दूसरी जगह पहुँचाना चाहते हो, तो तुम्हें उसे उठाकर फेंकने का प्रयास करना पड़ेगा। जहाँ भी ढेला गिरेगा, वहीं पड़ा रहेगा। वह अपने आप हिलता नहीं। उसे हमेशा उठाकर एक जगह से दूसरी जगह ले जाना पड़ता है।

शुरू में तो सब ढेले ही होते हैं। जिस अवस्था में तुम पड़े हो, वहाँ से कैसे अपने आप को हटायें, वह प्रक्रिया तो तुम्हें मालूम नहीं। तुम अपने आप को इतना भ्रमित कर देते हो कि उस भ्रम से मुक्त होने का उपाय मालूम नहीं रहता। पेड़ को पकड़े रहते हो और कहते हो कि पेड़ मुझे नहीं छोड़ रहा है। तो जो भ्रमित मानसिकता को लेकर चलता है और उस मानसिकता को बदलने में सक्षम नहीं होता या देरी लगाता है, वह व्यक्ति ढेला कहलाता है।

दूसरे प्रकार का व्यक्ति होता है ठेला, जिसे बार-बार ठेलना पड़ता है। वह गुरु से पूछता है, 'क्या करें?', गुरु कहते हैं, 'यह करो।' ठेल दिये उसको। जितना करने के लिए कहा गया है, वह उतना ही करेगा, फिर आयेगा गुरु के पास और कहेगा कि आपने जितना कहा था उतना हो गया, अब आगे क्या करें? 'अब वह करो।' फिर से ठेल दिया गुरुजी ने उसको। तो धीरे-धीरे, ठेलते-ठेलते ठेला आगे बढ़ता है।

तीसरे किस्म का व्यक्ति चेला है। वह अभी शिष्य बना नहीं है, बनने की तैयारी कर रहा है। वह गुरु की शिक्षाओं, निर्देशों और आदेशों को सुनता है और अपने अहंकार को बीच में लाए बगैर उनका अनुसरण करने का प्रयास करता है। यही चेले का प्रशिक्षण होता है।

जो चेला होता है वह चालाक और चतुर होता है। उसके लिए संकेत ही पर्याप्त है। गुरु कहता है, 'तुमको इस रास्ते पर चलना है।' चेला स्वीकार कर लेता है और उस रास्ते पर चल पड़ता है। ठोकर खाता है तो खुद संभलता है, वह रोते हुए बैठ नहीं जाता। कहता है, 'मुझे गुरुजी ने इस मार्ग पर चलने का निर्देश दिया है, मैं चलता रहूँगा। रोने का समय नहीं है मेरे पास। अपनी चोट पर मल्लहम-पट्टी करने का समय भी नहीं है मेरे पास।' रामचरितमानस में हनुमान जी ने इसी तरह के भाव को व्यक्त करते हुए कहा भी है– *'राम काजु कीन्हें बिनु मोही कहाँ बिश्राम।'*

ये चेले के उद्गार होते हैं। वह कभी रुकता नहीं। गुरु उसको एक संकेत दे देता है, बस। फिर चाहे आँधी हो, वर्षा हो, तूफान हो, गर्मी हो या सर्दी हो, वह चेला अपना रास्ता साफ करते हुए चलता रहता है। जीवन की किसी परिस्थिति में वह घबराता नहीं, किंकर्त्तव्यविमूढ़ नहीं होता। ठेला किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो जाता है कि अब मैं क्या करूँ आगे। ढेला भी किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो जाता है कि अब मेरा क्या होगा, कौन मुझे अब फेंकेगा आगे? वह स्वयं को निर्बल और असहाय देखता है। और गुरु पर आश्रित हो जाता है–'वे ही मुझे हर चीज बतलायेंगे, हर बात सिखायेंगे। वे जो भी बात कहेंगे, उसी को मानूँगा।' ठेला और ढेला गुरु पर निर्भर हो जाते हैं। लेकिन जो चेला है, वह अपने भीतर श्रद्धा, भक्ति, प्रेम और निष्ठा का विकास करते हुए गुरु द्वारा निर्देशित मार्ग पर आगे बढ़ता जाता है। और वही चेला फिर बाद में शिष्य बनता है। शिष्य बनने का मतलब, अपना सिर अर्पित कर देना।

यहाँ गुरु गोविंद सिह जी के जीवन की एक घटना प्रासंगिक है। एक बार उन्होंने अपने शिष्यों को बुलाकर कहा कि धर्म की रक्षा के लिए हमें तैयार होना है और मुझे ऐसे लोग चाहिए जो अपना जीवन दे सकते हैं। एक ने हाथ उठाया। गुरुजी ने कहा, 'चलो तंबू के भीतर।' उसे ले गये अंदर और फिर अचानक जोर से आवाज हुई। गुरुजी एक नंगी तलवार लिये तंबू से बाहर निकले। तलवार से खून टपक रहा था। सब लोगों ने सोचा, 'कमाल है, जिसने अपने आप को गुरुजी के लिए अर्पित किया, गुरुजी ने उसी को ही मार डाला।' गुरुजी ने फिर आवाज लगाई, 'दूसरा बंदा चाहिए।' डरते-डरते किसी और ने हाथ उठा दिया कि पता नहीं, कहीं गुरुजी मेरा भी गला तो नहीं काट डालेंगे। लेकिन हाथ उठा दिया। गुरुजी उसे भी तंबू में ले गए। फिर वैसी ही घटना हुई। ऐसे करते-करते पाँच लोगों ने अपने आप को गुरुजी के लिए अर्पित किया। और किसी की हिम्मत नहीं हुई। तब गुरु गोविंद सिंह ने कहा, 'तलवार से जो खून टपक रहा था, वह बकरी का खून था। बकरी का गला कटा है। बाकी पाँच तो मेरे प्यारे हैं, जो तंबू के भीतर हैं।'

पंच प्यारों ने अपना सिर दे दिया गुरुजी को। बाहर में बाकी जितने लोग थे, सब चेले और अनुयायी थे, शिष्य नहीं थे। जो अपने आप को सौ प्रतिशत गुरु को समर्पित कर दे और फिर उसका अपना कुछ अस्तित्व नहीं रहे संसार में, वही व्यक्ति शिष्य कहलाता है। यही अंतर है चेले और शिष्य में। चेला कहेगा, 'गुरुजी बहुत अच्छे हैं, अच्छी-अच्छी बातें कहते हैं। उनका सत्संग होता रहता है, आनंद आता है। कीर्तन-भजन होता है, अच्छा वातावरण बनता है।' ऐसी बातें चेले और अनुयायी करते हैं। लेकिन जो अपने आप को गुरु के प्रति पूर्णतया समर्पित कर चुका होता है, वह गुरु का ही होकर रहता है, और वही शिष्य है।

गुरु हमें कई तरह के ऐसे काम करने को कह सकते हैं जो हमें पसंद न हों। आखिर हम किसी काम को पसंद या नापसंद क्यों करते हैं? हमारी नापसंदगी हमारे अहंकार के कारण होती है और हमारी रुचि भी अंहकार की वजह से ही होती है। क्या हमारे जीवन में गुरु के मार्गदर्शन का वास्तव में विश्लेषण किया जा सकता है? मुझे इस प्रश्न का उत्तर देने की आवश्यकता नहीं। तुम स्वयं उत्तर जानते हो। किसी शिष्य के जीवन में गुरु की शिक्षाओं और निर्देशों के प्रभाव का सचमुच मूल्यांकन कभी किया जा सकता है?

तुम सभी व्यक्तिगत निर्देश चाहते हो, ऐसे निर्देश जो सिर्फ तुम्हारे लिए हों। पर क्या तुम उन निर्देशों को समझते भी हो? या सिर्फ अपने अहंकार की पुष्टि चाहते हो कि मैंने गुरुजी से व्यक्तिगत बात की? कई लोग गुरु से मार्गदर्शन लेने के बहाने केवल व्यर्थ बातचीत करते हैं। गुरु के साथ सर्वोच्च सम्बन्ध स्थापित करने के पहले अपने अहंकार को सम्भालना पड़ता है। चेले के स्तर पर व्यक्ति से यही अपेक्षा रहती है कि वह गुरु के मार्गदर्शन का अनुसरण करते हुए अपने अहंकार को सम्हाले।

आर्त, अर्थार्थी, जिज्ञासु और मुमुक्षु, ये सभी लोग शिष्य बनने से पहले ढेला, ठेला और चेला बनते हैं। यह प्राथमिक कक्षा है, जिससे हर किसी को गुजरना पड़ता है और जिसके अन्त में सभी का मन एक ही प्रकार की अवस्था प्राप्त करता है। वह है श्रद्धा, भक्ति और प्रेम की अवस्था। यह एक शुद्ध अवस्था है, जो हर मनुष्य को, चाहे वह आर्त हो या अर्थार्थी, जिज्ञासु हो या मुमुक्षु, गुरु की शक्ति के साथ जोड़ती है। भक्ति और श्रद्धा अपने आप में शुद्ध भावनाएँ हैं, इनमें किसी प्रकार की कलुषता या कालापन नहीं है।

हम सभी गुरु के साथ आरम्भ में श्रद्धा और भक्ति के साथ जुड़ते हैं और धीरे-धीरे गुरु की शिक्षाओं को आत्मसात् करते हैं। अगर वे कहते हैं मंत्र जप करो, तो ठीक है, उनके निर्देशानुसार हम एक माला, दो माला या पाँच माला मंत्र जप करते हैं। गुरु कहते हैं, तुम अपनी समस्या से निपटने के लिए अमुक मार्ग अपनाओ। अगर तकलीफ शारीरिक है तो यह अभ्यास करो, अगर मानसिक परेशानी और झंझट है तो प्रत्याहार करो, धारणा करो, ध्यान करो। अपने विक्षिप्त मन को स्थिर बनाओ, उसे शान्त करो। यहाँ तक सभी को एक ही प्रकार की शिक्षा मिल रही है और वे सभी गुरु के साथ एक सम्बन्ध स्थापित कर रहे हैं, जिसका आधार है–श्रद्धा, प्रेम और भक्ति।

शिष्यत्व में पदार्पण

जब गुरु के निर्देशानुसार अहंकार का प्रबन्धन आरम्भ होता है, तब ही शिष्यत्व में हमारा वास्तविक पदार्पण होता है। इससे पहले हम हर प्रकार की साधना कर सकते हैं, हर प्रकार के निर्देश का पालन कर सकते हैं, मंत्र, जिज्ञासु संन्यास या कर्म संन्यास में दीक्षित भी हो सकते हैं। लेकिन दीक्षित होते हुए भी अनेक लोग आर्त और अर्थार्थी अवस्था में ही रहते हैं। वैसे इसमें कुछ अनुचित नहीं, क्योंकि उन्हें कम-से-कम यह जानने का अवसर



तो मिल रहा है कि हम किस मुकाम पर खड़े हैं और वहाँ से हमें किस दिशा में जाना है। व्यक्ति भले ही दीक्षित हो, लेकिन इसका यह मतलब नहीं कि वह शिष्यत्व ग्रहण करने के योग्य हो गया है।

हाल ही में मैंने एक व्यक्ति के बारे में सुना। उसने करीब बारह साल पहले यूरोप में दीक्षा ली थी और तब से वह सोच रहा था कि अब वह शिष्य बन गया है। मंत्र प्राप्त करने के पश्चात् उसने दुबारा कभी सम्पर्क नहीं किया, लेकिन फिर भी उसकी यह मान्यता बनी रही कि मैं एक शिष्य हूँ। बारह साल पूरे होने के बाद वह स्वामी आनन्दानन्द के पास गया और उसने कहा, 'मैं बारह साल से शिष्य हूँ, लेकिन मुझे कुछ प्राप्त नहीं हुआ।' स्वामी आनन्दानन्द ने कहा, 'आपने आज तक किया ही क्या है? क्या दीक्षा लेकर आप बारह साल तक अपने घर में बैठे रहे, इस आशा में कि कोई चमत्कार हो जाएगा? आपने चमत्कार लाने के लिए स्वयं कोई प्रयास किया क्या?'

लोगों का प्राय: यही दृष्टिकोण होता है, 'मैं दीक्षा तो कब से ले चुका हूँ, लेकिन मुझे आज तक कुछ प्राप्ति नहीं हुई, कुछ अनुभूति नहीं हुई, कोई ज्ञान नहीं मिला।' यह तो वैसी ही बात हुई जैसे जमीन में बोये बीज को प्रतिदिन यह देखने के लिए निकाला जाए कि वह अंकुरित हुआ या नहीं।

यदि तुम रोज बीज को बाहर निकालोगे तो वह कभी अंकुरित नहीं होगा। यह सिर्फ तुम्हारी मूर्खता दर्शाता है। लोग सोचते हैं, 'मुझे मंत्र मिल गया है और अब सब तरह के चमत्कार होने लगेंगे। मुझे कुछ करने की जरूरत नहीं। मैं चुपचाप बैठकर तमाशा देखता रहूँगा।' लोग फलदार वृक्ष के नीचे मुँह खोले लेटे हैं और उम्मीद करते हैं कि फल सीधे उनके मुँह में टपकेंगे। उनके चारों ओर फल गिर रहे हैं, लेकिन वे अपना हाथ पसारने को तैयार नहीं। बारह साल तक वह यूरोपीय व्यक्ति मुँह खोले प्रतीक्षा करता रहा। बारह साल तक उसने इतना प्रयास भी नहीं किया कि बगल में पड़े फलों को उठा लेने के लिए अपने हाथ पसारे। उसका सम्बन्ध इसी भाव तक सीमित था कि मैं एक दीक्षित शिष्य हूँ और मैं इसी में खुश हूँ।

जो व्यक्ति आध्यात्मिक जीवन में आगे बढ़ना चाहते हैं उनका धर्म, उनका कर्त्तव्य दूसरा होता है। जो साधक अपने गुरु में श्रद्धा, विश्वास, प्रेम और भक्ति विकसित कर लेने के बाद आध्यात्मिक पथ पर अग्रसर होना चाहते हैं, उन्हें शिष्य बनने के लिए अपने अहंकार को लाँघना पड़ता है। केवल ऐसे व्यक्ति ही शिष्यत्व की पराकाष्ठा तक पहुँच पाते हैं।

श्री स्वामीजी ने कई बार बतलाया है कि अपने गुरु आश्रम में उन्हें कितने संघर्षों और परेशानियों का सामना करना पड़ा। उन्हें अपने अहंकार को दबाकर सब कुछ स्वीकार और सहन करना पड़ा। अहंकार के शमन से ही हम शिष्य बनते हैं। जब तक हमारे अन्दर अहंकार है, हम शिष्य कहलाने योग्य नहीं। हम केवल शिष्यत्व की प्राथमिक कक्षा में हैं।

प्राथमिक कक्षा का एक विशेष पाठ्यक्रम होता है–अपने भीतर श्रद्धा, भक्ति, विश्वास और प्रेम को जागृत करो, चाहे जिस तरीके से भी हो। चाहे तुम कुछ समय के लिए गुरु के सान्निध्य में रहो या सत्संग करो या आश्रम आते-जाते रहो, लेकिन अपने आप को गुरु तत्त्व के साथ जोड़ने का, गुरु के मिशन के साथ जोड़ने का प्रयास करो। और फिर जीवन में एक मोड़ ऐसा आता है जब विचारधारा बदलती है। जीवन के जिस सामान्य रास्ते पर अब तक चल रहे थे, उससे विमुख होने की इच्छा होने लगती है, क्योंकि उसमें अब कोई सार दिखलाई नहीं देता। उस समय लगता है कि हमारे जीवन का प्रयोजन अब भौतिक नहीं, बल्कि आध्यात्मिक है। और उस आत्म तत्त्व की ओर जाने की प्रबल इच्छा होने लगती है। जब मन में ऐसे विचार आते हैं तब स्वाभाविक रूप से विषयाकर्षण कम हो जाते हैं।

मैं यहाँ एक बहुत ही रहस्य की बात बोल रहा हूँ। अगर तुम चाहो कि आज से ही तुम्हारे जीवन में आमूल परिवर्तन आ जाए, तो इस प्रयास में बुरी तरह विफल रहोगे, क्योंकि तुम केवल अच्छे विचार ला सकते हो, वासना को दूर नहीं कर सकते। तुम विचार अवश्य कर सकते हो कि आज से हम आध्यात्मिक बनेंगे, लेकिन अपनी सांसारिक वासनाओं को कम नहीं कर पाओगे। पर जिज्ञासुओं और मुमुक्षुओं के, जिनका गुरु के साथ सम्बन्ध जोड़ने का प्रयोजन शुरू से अलग था, जीवन में कभी-कभी यह मोड़ आ जाता है। वही लोग शिष्य बनते हैं और शिष्य के धर्म का पालन करते हैं।

जो लोग आध्यात्मिक पथ पर आगे बढ़ने का निश्चय कर लेते हैं, उनका फिर क्या धर्म होता है? उन्हें अपने भीतर कौन-से गुण विकसित करने होते हैं? एक शिष्य का क्या धर्म, कैसी साधना और कैसा जीवन होना चाहिए?

शिष्य का धर्म – प्रथम स्तर

शिष्य का पहला धर्म होता है चिन्तन करना, अपने विचारों को देखना और उन्हें परिष्कृत बनाना। विचार इस प्रकार के हों जिनसे जीवन का मार्ग स्पष्ट हो, अपने कर्त्तव्यों के बारे में भ्रम या शंका उत्पन्न न हो। चिन्तन-मनन और विचार द्वारा अपनी जीवन-यात्रा की दिशा निर्धारित करना शिष्य का पहला धर्म है।

चिन्तन और विचार में अलग-अलग चीजों पर ध्यान देना पड़ता है। पहली चीज, 'मेरे जीवन का उद्देश्य क्या है?' जीवन का प्रयोजन मोक्ष या ईश्वर-साक्षात्कार नहीं, बल्कि आध्यात्मिक सजगता की वृद्धि है। मोक्ष या ईश्वर-साक्षात्कार तो जीवन की एक स्वाभाविक उपलब्धि है। जब तुम्हारा मन और इन्द्रियाँ तुम्हारे वश में रहती हैं, जब तुम्हारे प्राण और चेतना जाग्रत होते हैं, तब ईश्वर-दर्शन अपने आप स्वाभाविक रूप से होता है। खाना खाओगे तो पेट भरेगा ही, पानी पियोगे तो प्यास बुझेगी ही। उसी प्रकार से जब तन्मय होकर, एक लक्ष्य को लेकर साधना करोगे, तब दर्शन तो होगा ही। दर्शन प्रयोजन नहीं, बल्कि एक जाग्रत, प्रकाशित चेतना का परिणाम है।

आध्यात्मिक चेतना को प्राप्त करने के लिए गहन चिन्तन आवश्यक है। भौतिक उपलब्धियों के लिए तो लोग बहुत चिन्तन करते हैं। अगर गाड़ी या मकान खरीदना हो तो कीमत वगैरह देखेंगे, खूब सोच-विचार करेंगे। जूता

खरीदना है तो उस पर भी दिनभर सोचेंगे। लेकिन जब आध्यात्मिक सजगता की बात आती है तब केवल एक विचार में उसको छोड़ देंगे। नहीं, उसके बारे में भी गहन चिन्तन की आवश्यकता है।

मोक्ष या ईश्वर-दर्शन तो उच्चाकांक्षा है, लेकिन पहले तुम्हें चिन्तन और विचार द्वारा आध्यात्मिक सजगता प्राप्त करनी है। इसलिए उच्चाकांक्षा और विचार, दोनों में अंतर को जानो। विचार द्वारा यह जाना जाता है कि जो निर्देश मुझे दिये गये हैं, मैं उनको समझ रहा हूँ या नहीं। विचार द्वारा अपने आप को सुरक्षित रखा जाता है ताकि हम पुन: नकारात्मक प्रभावों की चपेट में न आ जाएँ। अपने आप को नकारात्मकता से बचाने के लिए विचार को एक शक्ति का रूप देना पड़ता है। इसलिए शिष्य का पहला धर्म होता है अपने विचारों को व्यवस्थित करके चलना। किसी के प्रति दुराग्रह नहीं, कटुता या शत्रुता नहीं, क्योंकि ये तो भँवर हैं, जिनमें मन फँस जाता है। इसी को ही वृत्ति कहते हैं, चित की वृत्ति, जिसमें मन फँस जाता है। इसलिए विचार के द्वारा अपने आप को, अपनी सजगता को इन भँवरों के आकर्षण से मुक्त रखना है।

यह मत सोचो कि गुरु के द्वार पर आने के बाद तुम पूर्णतया समर्पित हो गये हो और अब गुरु ही तुम्हारे जीवन के सभी निर्णय लेंगे। शुरू में हर कोई यही कहता है, लेकिन दस साल बाद वे कहते हैं, 'गुरुजी ने मेरे लिए न कुछ सोचा है, न कुछ किया है। मैं यहाँ अपना समय बर्बाद कर रहा हूँ। इन दस सालों में उन्होंने एक बार भी न मेरी ओर देखा, न मुझसे कोई बात ही की।' पहले तुम कहते हो कि सब निर्णय गुरुजी के हाथ में हैं, सब उनकी मर्जी के मुताबिक होगा, और जब गुरु निर्णय ले लेते हैं तब तुम कहते हो कि गुरुजी तो मुझसे बात तक नहीं करते! इस प्रकार के विचारों पर नजर रखनी चाहिए।

अपने विचारों का अवलोकन पहला कदम है। लोगों की संगति से ईर्ष्या और क्रोध जैसी भावनाएँ स्वाभाविक रूप से उठती हैं। इन पर नजर रखनी चाहिए। मन में जो भी क्रियाएँ-प्रतिक्रियाएँ होती हैं, उन सब की जानकारी रहनी चाहिए। एक सामान्य-सा अनुभव बतलाता हूँ। जब तुम किसी को मुस्कुराते देखते हो तो तुरन्त तुम्हारे मन में विचार आता है, 'क्या मैंने कुछ गलत कर दिया? क्या इसीलिए वह व्यक्ति मेरी ओर देखकर मुस्कुरा रहा है?' यह विचार आत्महीनता और स्वयं पर संदेह का परिचायक है।

संदेह और प्रश्न तो हमेशा उठते रहेंगे, लेकिन उनके प्रवाह में अपने आप को मत बहने दो। अपने प्रश्नों के समाधान ढूँढने का प्रयास करो, अपने प्रश्नों और संदेहों को अंतिम मत मानो। वे तो मील के पत्थर हैं, जो हमें एक नए बोध और ज्ञान के द्वार तक ले जाते हैं। इसलिए अपने विचारों के प्रति हमेशा सतर्क रहो और देखते रहो कि वे सही दिशा में जा रहे हैं या नहीं।

जब तुम एक नकारात्मक विचार की धारा में बह जाते हो, तब उसी क्षण तुम्हारी ग्रहणशीलता और शिक्षा ग्रहण करने की भावना समाप्त हो जाती है। फिर उस विचार की नकारात्मक ऊर्जा ही तुम्हारे व्यवहार और कर्मों को निर्देशित करती है। इसलिए जिस क्षण तुम एक नकारात्मक विचार को अपने मन में उठते देखो, उसी क्षण कहो, 'रुको! तुम यहाँ क्यों आए हो?' अगर तुम्हारे घर में चोर घुस जाए तो क्या तुम उसे ललकारोगे नहीं? क्या उसे बाहर निकालने का प्रयास नहीं करोगे? उसी प्रकार क्या तुम अपने मन से उस नकारात्मक विचार को खदेड़ने के लिए संघर्ष नहीं कर सकते?

यह क्षमता शिष्य की प्राथमिक योग्यता है। अगर तुम ऐसा नहीं कर सकते तो अपने आप को सुधारने का प्रयास करो। यह बात सभी पर लागू होती है, चाहे वे संन्यासी हों, विद्यार्थी हों या अन्य आध्यात्मिक साधक। विचार शिष्य का पहला धर्म है, जिससे वह अपने मन और संकल्प की पवित्रता को बनाए रखता है। जीवन के नकारात्मक तत्त्वों से अपने आपको अछूता रखो और अपने विचारों को एक टॉर्चलाइट के रूप में प्रयोग में लाओ। जब देखते हो कि मन में बुरे विचार आ रहे हैं, तब तुम्हें मालूम हो जाना चाहिए कि तुम्हारी बैटरी कमजोर हो रही है। बैटरी बदल दोगे तो टॉर्च से तेज प्रकाश आयेगा। धुँधले प्रकाश में चीजें स्पष्ट नहीं दिखतीं, मन विचलित हो सकता है। लेकिन जब प्रकाश की तीव्रता बढ़ेगी, जब विचारों में सकारात्मकता और रचनात्मकता की वृद्धि होगी, तब नकारात्मक तत्त्व अपने आप ही तुमसे दूर भागेंगे। प्रयास करो कि तुम्हारे विचार हमेशा विवेकपूर्ण, धर्म संगत और न्याय संगत रहें। यह शिष्य का पहला धर्म और पहली साधना है।

लोग इस पहले धर्म को ही नहीं निभा पाते, क्योंकि वे प्रतिस्पर्धा, क्रोध, ईर्ष्या, भय, असुरक्षा जैसी भावनाओं से ग्रस्त रहते हैं। यही मन के भँवर हैं, जिनमें लोग फँस जाते हैं। हालाँकि अनेक लोग शिष्य बनने की चाह रखते हैं, देखा जाए तो दुनिया में आज तक बहुत कम सच्चे शिष्य हुए हैं।

अपने विचारों को संयत और नियंत्रित कर लेने से वे कवच की तरह जीवन के नकारात्मक प्रभावों से रक्षा करते हैं। ऐसा कर लेने के पश्चात् शिष्य को आध्यात्मिक प्रगति के लिए चार अन्य आधारों की आवश्यकता पड़ती है। ये चार आधार हैं–विवेक, वैराग्य, षट्-सम्पत्ति और मुमुक्षुत्व।

शिष्य धर्म के चार आधार

विवेक

सत्य और असत्य, उचित और अनुचित के अंतर को जानना ही विवेक कहलाता है। जब हम विभिन्न परिस्थितियों और व्यक्तियों का सामना करते हुए प्रतिक्रियाएँ करते हैं, हमें यह मालूम नहीं रहता कि हमारी प्रतिक्रिया सही है या गलत, सकारात्मक है या नकारात्मक। यहीं पर विवेक की भूमिका आती है। जब तुम अपने परिवारजनों, मित्रों, साथियों, भाई-बहनों या गुरु से वार्त्तालाप करते हो, उस समय भी विवेक का उपयोग करते हुए अपने विचारों और वाणी को उत्तम रखो। तुम एक अच्छे व्यक्ति बनोगे।

शिष्य जब अपने विचारों को सुदृढ़ बनाने और उनके द्वारा मन की चैतन्यता को बढ़ाकर संकीर्णता को कम करने का प्रयास कर रहा होता है, तब भी विवेक बहुत महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। उस समय सही और गलत के अंतर को जानना आवश्यक होता है। मैं यह नहीं कह रहा हूँ कि जो गलत है उसको छोड़ दो और जो सही है उसको अपनाओ। बस, यह कह रहा हूँ कि दोनों के अंतर को जानो। इतना पर्याप्त है।

इसलिए आध्यात्मिक जीवन का प्रथम आधार है विवेक–सही-गलत, अच्छे-बुरे, उचित-अनुचित के अंतर को जानने-समझने की क्षमता।

वैराग्य

दूसरा आधार है, वैराग्य। मैं एक उदाहरण देकर समझाता हूँ। इस कमरे में बहुत-से लोग बैठे हैं, लेकिन प्रत्येक की सजगता मुझ पर केन्द्रित है। तुम्हारे आगे-पीछे, दायें-बायें, चारों ओर अनेक लोग बैठे हैं, लेकिन इस समय तुम्हारा सम्बन्ध केवल मेरे साथ है। दूसरे लोगों से तुम्हारा पूरी तरह सम्बन्ध-विच्छेद हो चुका है। जैसे ही तुम मुझसे सम्बन्ध तोड़कर किसी अन्य व्यक्ति से बात करना शुरू करोगे, तुम अपने आस-पास के वातावरण से पुनः जुड़

जाओगे। जब तुम अपने आस-पास के वातावरण से जुड़ते हो, तब तुम उसी में रम जाते हो। वही राग है। लेकिन आस-पास के लोगों और परिस्थितियों के बावजूद अगर तुम अपने लक्ष्य पर केन्द्रित रहते हो, और उन चीजों का तुम पर कोई असर नहीं पड़ता, तो वह वैराग्य है।

जब तुम विवेक द्वारा सही और गलत के बीच अंतर को जान लेते हो तब तुम्हें अपने भीतर उन कर्मों और परिस्थितियों के प्रति वैराग्य उत्पन्न करना चाहिए जो तुम्हें सीमित करती हैं, बंधन में डालती हैं। अगर किसी कामना के लिए कर्म करते हुए हम बंधन-युक्त हो रहे हैं, अपने आप को फँसा रहे हैं, तो वैराग्य द्वारा ही हम पुन: अपने आप को उस बंधन से मुक्त करके स्वतंत्र बना सकते हैं। राग अपनी जगह रहे, लेकिन तुम्हें प्रभावित न करे।

यहाँ पर राग का त्याग नहीं कहा गया है। वैराग्य का मतलब आकर्षणों और आसक्तियों के बीच रहते हुए भी अपने लक्ष्य की सजगता बनाए रखना। इसको कहते हैं बिना राग के रहना, और जो ऐसा कर पाता है उसे कहते हैं वैरागी। लेकिन जो अपने लक्ष्य के प्रति निष्ठा नहीं बनाए रख पाता, अपने आस-पास के वातावरण से उलझ जाता है, वह अन्तत: आसक्त हो जाता है। इसलिए वैराग्य शिष्यत्व का दूसरा आधार माना गया है, जिसके द्वारा हम सुख और दु:ख के क्षणिक अनुभवों से अपने आप को अप्रभावित रख सकते हैं, उनके बंधन से विमुक्त रह सकते हैं।

षट्-सम्पत्ति

तीसरा आधार है षट्-सम्पत्ति, जो वास्तव में शिष्यत्व की साधना को पारिभाषित करती है। यह छ: प्रकार की निधियों का वर्णन करती है, जो एक सच्चे शिष्य के पास होनी चाहिए।

शम– पहली सम्पत्ति है शम, इच्छाओं का त्याग। किसी ने एक बार महात्मा बुद्ध से पूछा, 'यह कैसे जानें कि आध्यात्मिक मार्ग पर हमारी प्रगति हो रही है या नहीं?' बुद्ध ने कहा कि जब तुम्हारे जीवन में सभी अनावश्यक इच्छाएँ कम होने लगें, तब जान लेना कि तुम आध्यात्मिक मार्ग पर आगे बढ़ रहे हो। जब कामना-पूर्ति की चाह कम होने लगती है, तब समझो कि आध्यात्मिक पथ पर तुम अग्रसर हो। इसके लिए तुम्हें आवश्यक और अनावश्यक कामनाओं को अलग करना होगा। तुम्हें अपनी जरूरतों को नकारना नहीं है, क्योंकि इच्छा भी हमारे जीवन की एक प्रेरक शक्ति है।

तुम इच्छा के बल पर ही खाते हो, चलते हो, जीते हो। इच्छा अपने आप में एक शक्ति है। लेकिन वह इच्छा जो तुमको विषयों में बाँध देती है और सम्मोहित कर देती है, उससे अपने आप को मुक्त रखना। इच्छा की शक्ति को प्रयोग में लाना, लेकिन इच्छा के परिणामों से अपने आप को मुक्त रखना। इच्छाओं के सम्बन्ध में इतना विवेक होना चाहिए।

दम–दूसरी सम्पत्ति है दम, इन्द्रियों पर संयम। जब इन्द्रियाँ सक्रिय रहती हैं तब वे मानसिक और प्राणिक शक्ति का ह्रास करती हैं। वे मानसिक व्यवहारों, विचारों और भावनाओं को बदल कर मन को संसाराभिमुख बनाती हैं। मन में अशान्ति उत्पन्न होती है, मन विचलित हो जाता है, मानसिक एकाग्रता भंग हो जाती है। एकाग्रता के भंग होने पर आराध्य का चिन्तन समाप्त हो जाता है। आराध्य के सतत् चिन्तन को बनाये रखने के लिए इन्द्रियों पर संयम, इन्द्रियों का निग्रह आवश्यक है।

उपरति–तीसरी सम्पत्ति उपरति है। उन भोग विषयों के प्रति पहले सजग होना जो तुम्हें आकृष्ट करते हैं, और फिर उनकी उपेक्षा करना ही उपरति कहलाती है। अगर यहाँ बैठे लोग जोर से बातचीत करना शुरू कर दें, तो तुम क्या करोगे? या तो तुम उन्हें चुप कराओगे या अपने कान बन्द करके उनकी उपेक्षा कर दोगे। इसी तरह भोग विषयों की भी उपेक्षा करनी है। उनमें तुम्हें अपने लक्ष्य और मार्ग से च्युत कर देने की क्षमता हरगिज नहीं होनी चाहिए।

शिष्यत्व भोग का विरोध नहीं करता, लेकिन अतिभोग भी नहीं होना चाहिए। हम लोगों ने भोग विषयों का अनुभव प्राप्त करने के लिए ही तो संसार में जन्म लिया है। ईशावास्य उपनिषद् में कहा गया है–

ॐ ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद् धनम् ॥

इस श्लोक का अर्थ यह है कि इस संसार के भोगों को अवश्य भोगो, लेकिन साथ-ही उनसे अनासक्त भी रहो, ताकि तुम्हें ऐसी चीजों की चाह न हो जो तुम्हारी नहीं हैं। भोग से तो कोई मुक्त नहीं है, न राजा, न रंक, न फकीर। जब भोग से कोई मुक्त नहीं, तब फिर कहीं तो किसी प्रकार का ब्रेक होना चाहिए। एक साधु, एक शिष्य अपने जीवन में ब्रेक का इस्तेमाल करता है। कैसे? अगर तुम्हारे पास किसी पाँच-सितारे होटल में भोजन करने

लायक पैसे नहीं हैं, तो एक ढाबे में खाकर काम चला लो। फिर होटल के भोजन की कामना मत करो। जो तुम्हारी सीमा के बाहर है, वहाँ से अपने मन को हटा लो, उसकी उपेक्षा करो। जब वह चीज तुम्हारी पहुँच के दायरे में आयेगी, तब उसके बारे में सोचना। तुम्हारी सीमा के बाहर के किसी विषय ने तुमको आकृष्ट कर लिया और तुम उसी में फँस कर अपने को ही कोसते जा रहे हो, इसको कहते हैं विषय-बंधन। किसी भोग की वस्तु ने हमारे मन को सम्मोहित कर अपनी ओर खींच लिया है, अपने से जोड़ लिया है। जब वासना बढ़ती है और आदमी उस वासना से मुक्त नहीं हो पाता, तब उसके जीवन में उपरति भी नहीं होती। उपरति का मतलब हुआ, जो भोग विषय तुम्हारी सीमा से बाहर है, उसकी उपेक्षा करो और जो तुम्हारी सीमा के भीतर है, उसका आनन्द लो। उपरति एक शिष्य के जीवन में अति आवश्यक गुण है।



तितिक्षा – चौथी संपदा तितिक्षा है। तितिक्षा का मतलब होता है, परिस्थितियों में सहनशीलता। कोई गाली दे तो सुन लो, प्रतिक्रिया मत करो। लेकिन तितिक्षा हमेशा विवेक, वैराग्य और विचार से जुड़ी रहनी चाहिए। तुम्हें मालूम होना चाहिए कब प्रतिक्रिया करनी है और कब नहीं।

इस सन्दर्भ में एक कहानी आती है। किसी गाँव के किनारे एक जंगल था, जिसमें एक विषैला साँप रहता

था। सब उस साँप से डरते थे। जो भी यात्री उस जंगल से गुजरता, साँप उसे डसकर मार देता था। गाँव के लोग इतने भयभीत हो गये कि उन्होंने जंगल में जाना ही छोड़ दिया।

एक दिन एक साधु उस गाँव में आया और वहाँ रातभर ठहरा। अगली सुबह जब वह जाने की तैयारी कर रहा था, गाँव वालों ने उससे पूछा, 'आप कहाँ जा रहे हैं?' साधु ने कहा, 'इस जंगल से गुजरकर अगले गाँव तक जा रहा हूँ।' गाँव वालों ने कहा, 'कृपया जंगल के रास्ते से मत जाइये। वहाँ एक विषैला साँप रहता है, जो हर यात्री को मार डालता है। आप दूसरे रास्ते से जाइये, जो जंगल से नहीं गुजरता।' साधु ने कहा, 'ठीक है, जैसी तुम्हारी इच्छा।' लेकिन साधु तो 'सुननी सबकी, करनी अपनी' में विश्वास रखते हैं। अनावश्यक चर्चा और वाद-विवाद से बचने के लिए वे कह देते हैं, 'जैसी तुम्हारी इच्छा', लेकिन अन्त में वे अपनी मर्जी के मुताबिक ही चलते हैं। तो वह साधु भी अंततः जंगल के रास्ते से ही गया।

जैसे ही साँप ने साधु को देखा, वह उसे डसने के लिए फुफकारते हुए आया। लेकिन साधु के सामने आते ही उसे आभास हुआ कि इस व्यक्ति में तो लेश मात्र भी भय नहीं। साँप कुछ देर के लिए स्तम्भित हो गया। वह सोचने लगा, 'आज तक तो लोग मुझे दूर से देखते ही डर के मारे थर-थर काँपने लगते थे। यह व्यक्ति कौन है, जो मुझे सामने फुफकारता देख भी भयभीत नहीं है? चलो, इसी से पूछता हूँ।' तो साँप ने साधु से पूछा, 'क्या तुम्हें डर नहीं लग रहा?' साधु ने साँप की ही भाषा में जवाब दिया, 'डर? किस बात का?'

साँप को इस उत्तर से इतना आश्चर्य हुआ कि उसने कहा, 'क्या तुम मुझे अपने जैसा निर्भीक बनना सिखा सकते हो?' साधु ने कहा, 'हाँ। लेकिन इसके लिए तुम्हें दीक्षा लेनी होगी। और दीक्षा लेने के बाद तुम्हें अपने व्यवहार को सुधारना होगा। तुम्हें अच्छा बनना होगा, लोगों को डसना-मारना छोड़ना होगा।' साँप ने कहा, 'मेरे लिए तो यह बहुत मुश्किल होगा, क्योंकि मेरा स्वभाव ही फुफकारना और डसना है। और आप चाहते हैं कि मैं रातों-रात साधु बन जाऊँ! खैर, मैं कोशिश जरूर करूँगा।'

साधु ने साँप को एक मंत्र दिया, जिसके बाद वह साँप रेंगते हुए एक चट्टान के ऊपर जा पहुँचा और वहाँ धूप सेंकते हुए मंत्र जपने लगा। साधु वहाँ से चला गया। उसके पीछे-पीछे कुछ अन्य यात्री आ रहे थे। उन्होंने उस

चट्टान पर साँप को आँख बन्द कर, धूप सेंकते हुए देखा। उन्हें मालूम नहीं था कि साँप मंत्र-जप में निमग्न है। जैसे अधिकतर साधक मंत्र-जप करते हुए सो जाते हैं, वैसे ही साँप भी ऊँघ रहा था। उन यात्रियों ने हिम्मत बाँध कर अपनी-अपनी लाठी उठायी और साँप के पास जाकर उसे लाठियों से मारने लगे। साँप ने सोचा, 'मेरी साधना में विघ्न पड़ रहा है। मुझे अपने बिल में लौट जाना चाहिए।' वह अपने बिल में लौट आया और अपना मंत्र जप करता रहा।

अगले दिन वह फिर धूप में मंत्र जप करने के लिए अपने बिल से निकला। पर अब गाँव वालों को इस बात की खबर लग गई थी कि साँप की शायद तबियत ठीक नहीं है, इसलिए वह किसी को काट नहीं रहा है। साहस जुटाकर वे उसके पास पहुँचे और उस पर लाठियों और पत्थरों की बौछार कर दी। साँप ने सोचा, 'मैंने अपने गुरु से यह मंत्र आखिर क्यों लिया? क्यों मैंने प्रतिकार न करने की प्रतिज्ञा ली? ये लोग मार-मार कर मेरा कचूमर निकाल रहे हैं, लेकिन मैं कुछ करने में असमर्थ हूँ। मैंने गुरुजी को वचन जो दिया है कि मैं किसी को मारूँगा नहीं। अब इस संकल्प पर चलने के अलावा और कोई चारा नहीं।'

किसी तरह वह अपने आप को गाँव वालों के चंगुल से छुड़ाकर अपने बिल में लौट आया। तीसरे दिन गुरु लौट आए। साँप ने सोचा था कि आज वह अपने साधना स्थान पर नहीं जायेगा, नहीं तो लोग आकर फिर उसे मारेंगे। इसलिए वह घर में बैठकर ही अपनी साधना कर रहा था। गुरु ने बिल के पास पहुँचकर पुकारा, 'ओ चेले! अन्दर हो क्या?' दर्द से कराहते हुए, धीरे-धीरे रेंगते हुए साँप अपने बिल से बाहर निकला और बोला, 'गुरुजी, मेरी हालत ठीक नहीं।' गुरुजी ने पूछा, 'क्या हुआ?' उसने कहा, 'लोगों ने मेरी जमकर पिटाई की। मार-मार कर जान ही ले ली।' साधु ने पूछा, 'लेकिन क्यों?' साँप बोला, 'मालूम नहीं। दो दिन पहले आपने मुझे मंत्र दिया। मैं उस मंत्र के जप और ध्यान में मग्न था। लोग आए, मुझे लाठियों और पत्थरों से मारने लगे। मेरे शरीर से खून बहने लगा, लेकिन आपने मुझे बदला लेने से मना किया था, इसलिए मुझे चुपचाप सहना पड़ा।'

साधु ने कहा, 'हाँ, मैंने तुम्हें लोगों को मारने से मना जरूर किया था। लेकिन फुफकारने से तो मना नहीं किया था न। मैंने तुमसे कहा था कि किसी को जान से मारना नहीं। लेकिन मैंने यह तो नहीं कहा था कि फुफकारो मत।

जब लोग तुम्हें मारने आते हैं, अगर तुम उन्हें देखकर फुफकार दोगे तो उन्हें तुम्हारे पास आने की हिम्मत नहीं होगी।'

मैंने यह कहानी इस बात को उजागर करने के लिए बतलायी कि सहनशीलता और शान्ति में भी विवेक की सक्रिय भूमिका होनी चाहिए। विवेक के बिना पूर्ण शान्ति सम्भव नहीं। सही और गलत के अंतर को जाने बगैर पूर्ण शान्ति नहीं मिल सकती। पूर्ण शान्ति का अनुभव तभी होगा जब तुम सही समय पर, सही तरीके से, सही चीज करोगे। यही तितिक्षा है, विवेकपूर्ण धैर्य और सहनशीलता।

श्रद्धा – पाँचवीं निधि है श्रद्धा। इस भावना का बौद्धिक विश्लेषण सम्भव नहीं, क्योंकि यह हमारी चेतना की गहराई से उपजती है।

इस सन्दर्भ में एक ईसाई पादरी की कहानी आती है जो समुद्री जहाज पर सुदूर टापुओं की यात्रा कर रहा था। एक टापू पर उतरने पर उसने देखा कि वहाँ जंगली आदिवासी रहते हैं। लेकिन आश्चर्य की बात यह कि वे ईसाई प्रार्थना बोलते हैं, भले ही टूटे-फूटे ढंग से। पादरी ने आदिवासियों से पूछा, 'तुम्हें यह प्रार्थना किसने सिखायी? तुम्हारा उच्चारण एकदम गलत है।' आदिवासियों ने कहा, 'लगभग दस साल पहले आपकी तरह एक अन्य पादरी यहाँ आए थे, उन्होंने ही हमें यह प्रार्थना सिखायी। उसके बाद वे चले गए। हम तो अनपढ़ और गँवार लोग हैं, शायद हम सही शब्द और वाक्य भूल गए हैं। लेकिन जितना हमें याद है, उतना हम नियमित रूप से दुहराते हैं।' पादरी ने उनसे कहा, 'कोई बात नहीं, मैं तुम्हें सही तरीका सिखाऊँगा।' बड़ी मेहनत के साथ, एक-एक शब्द सिखाते हुए पादरी ने उन्हें पूरी प्रार्थना सिखायी। जब आदिवासियों ने प्रार्थना सीख ली और उसे बिना गलती किये दुहराने लगे, तब पादरी ने सोचा कि अब मेरा काम यहाँ पूरा हो गया। वह अपने जहाज पर लौटा और उस टापू से रवाना हो गया।

चार-पाँच घण्टे बाद, जब जहाज बीच समुद्र में था, किसी ने जोर से चिल्लाकर कहा, 'कोई अनजान चीज जहाज की तरफ तेजी से बढ़ रही है!' सब बाहर निकलकर उस ओर देखने लगे। जब वह चीज जहाज के पास पहुँची तो उन्होंने पाया कि वे टापू के आदिवासी थे, जो पानी पर तेजी से चल रहे थे! उन्हें देखकर सब दंग रह गए और मन-ही-मन सोचने लगे, 'पानी पर चलने की क्षमता, जो सिर्फ हमारे प्रभु ईसा मसीह के पास थी, इन जंगली आदिवासियों को कैसे प्राप्त हुई?'

जहाज के निकट पहुँचने पर आदिवासियों ने पादरी से कहा, 'पादरी साहब, हमारी दुबारा सहायता कीजिये। आपके जाने के बाद हम प्रार्थना का सही तरीका फिर भूल गए। इसलिए हम आपके पास उसे फिर से सीखने आए हैं।' पादरी ने उनकी ओर एक बार देखा और फिर सिर हिलाते हुए कहा, 'नहीं, अब मैं तुम्हें दुबारा नहीं सिखाऊँगा। क्योंकि तुम जो भी कर रहे हो, ठीक कर रहे हो। मैंने तुम्हें जो तरीका सिखाया, उसे तुम भूल गए, लेकिन तुम जिस भी तरीके से प्रार्थना कर रहे हो, वही तुम्हारे लिए सही और उचित है, क्योंकि उससे तुम्हें हृदय की निष्कपटता और शुद्धता प्राप्त हुई है, जिसने तुम्हें ईश्वर के अत्यंत समीप ला दिया है।' यही श्रद्धा है।

श्रद्धा की दो अभिव्यक्तियाँ होती हैं, एक बौद्धिक और दूसरी भावनात्मक। एक मन और बुद्धि से उपजती है और दूसरी हृदय से। शुरुआत में श्रद्धा मन से उत्पन्न होती है। 'मैं इस बात को मानता हूँ, इसमें विश्वास रखता हूँ'–व्यक्ति के मन में इस प्रकार के विचार रहते हैं। लेकिन बाद में वे अनुभव गहन हो जाते हैं और श्रद्धा हृदयगत अनुभूति बन जाती है। यही वह गुण है, वह निधि है जो तुम्हें आध्यात्मिक शक्ति से युक्त करती है। श्रद्धा द्वारा मनुष्य आध्यात्मिक बल, ओज और शक्ति प्राप्त कर लेता है।

एक व्यक्ति की कहानी बतलाता हूँ, जो यहाँ गंगा पार रहने वाले एक संन्यासी से मिलने आया। उस समय गंगा में बाढ़ आयी हुई थी। बरसात के दिन थे और पानी का स्तर काफी ऊँचा था। जब वह व्यक्ति घर लौटने को तैयार हुआ तब तक शाम ढल चुकी थी और उसे वापस ले जाने के लिए कोई नाव नहीं बची थी। उसने चिन्ता भरे स्वर में साधु से कहा, 'मैं घर जाना चाहता हूँ, लेकिन यहाँ कोई नाव नहीं है। समझ में नहीं आ रहा कि क्या करूँ?' साधु ने कहा, 'चिन्ता मत करो। मैं तुम्हें कागज पर एक मंत्र लिख कर देता हूँ। उसे अपनी जेब में रख लेना, तब तुम निर्भय होकर नदी को पार कर लोगे।' ऐसा कहकर साधु ने कागज के एक टुकड़े पर एक मंत्र लिखा और कागज को मोड़कर उस व्यक्ति की जेब में डाल दिया।

व्यक्ति ने पानी पर कदम रखा। आश्चर्य! उसका पैर नहीं डूबा। उसने एक और कदम बढ़ाया, फिर भी वह नहीं डूबा। उसका विश्वास मजबूत होता गया और वह पानी पर चलने लगा। मन-ही-मन उसने साधु को धन्यवाद

दिया, जिसने उसे नदी पार करने के लिए इतना प्रभावशाली और उपयोगी मंत्र दिया था। जब वह नदी के बीचोबीच था, उसके मन में अचानक विचार आया, 'न जाने यह कौन-सा मंत्र है जो साधु ने मुझे दिया है। अगर मुझे मालूम चल जाए तो मैं इसके सहारे खूब पैसे कमा सकता हूँ।' उसने अपनी जेब से कागज निकाला, उसे खोला और मंत्र पढ़ा। उसमें केवल एक शब्द लिखा था– 'राम।' व्यक्ति को बहुत आश्चर्य हुआ। उसने सोचा, 'क्या यही वह प्रभावशाली मंत्र है? मैं तो इसे कब से जानता हूँ। यह मंत्र मुझे नदी कैसे पार करा सकता है?' जैसे ही उसके मन में यह संदेह आया, वह पानी में डूब गया!

जिस क्षण उसके मन में मंत्र के बारे में शंका उठी, उसी क्षण मंत्र निष्प्रभावी हो गया और वह व्यक्ति डूब गया। जब तक मंत्र उसकी जेब में था और उसे मालूम नहीं था कि वह मंत्र क्या है, तब तक उसकी श्रद्धा अडिग थी। लेकिन जैसे ही उसने 'राम' मंत्र देखा, मन-ही-मन सोचा, 'मैं तो इस मंत्र को जानता हूँ। इसमें कौन-सी बड़ी बात है।' उस समय उसने अपनी श्रद्धा खो दी। 'मैं जानता हूँ', ऐसा कहकर उसने अपने आप को अपनी बुद्धि से जोड़ा। वह इसलिए डूबा कि उसने अपनी श्रद्धा से नाता तोड़ दिया। उसकी श्रद्धा बौद्धिक हो गई और बौद्धिक श्रद्धा उसे नदी के पार ले जाने में सक्षम नहीं थी। लेकिन जब तक उसे मंत्र की जानकारी नहीं थी, तब तक उसमें निश्छल श्रद्धा थी, जो उसके हृदय की अभिव्यक्ति थी।

श्रद्धा विकसित करने के लिए अपने आपको मन के बंधन से मुक्त करना पड़ता है। मन हमेशा प्रश्न और संदेह खड़े करता है। इसलिए अपनी श्रद्धा और अपने बीच बुद्धि को मत आने दो। जब तक तुम ढेले, ठेले और चेले हो तब तक बुद्धि बीच-बीच में अड़चन डालती रहेगी, लेकिन जब तुम षट्-सम्पत्ति अर्जित करने के स्तर पर आ जाते हो, तब यह तुम्हारी साधना बन जाती है कि तुम अपने आप को बुद्धि की सीमा से मुक्त करो। जब माँ अपने बच्चे से कहती है कि आग में हाथ नहीं डालना, तब बच्चा अपनी माँ की बात सुनता है। उसी तरह अब तुम्हें बालसुलभ श्रद्धा के साथ गुरु के वचनों को सुनना है। अगर बच्चा अपनी बुद्धि का इस्तेमाल करे और सोचे, 'मैं एक बार आग में हाथ डालकर देखूँ तो सही कि माँ जो कह रही है वह सच है या नहीं', तब तो उसका हाथ जरूर जलेगा। अगर वह अपनी माँ के वचनों पर संदेह करता है और उनका श्रद्धापूर्वक अनुसरण नहीं करता, तब



उसे जरूर तकलीफ उठानी पड़ेगी। श्रद्धा की स्थिति में एक सहज विश्वास रहता है कि जो कुछ भी मेरी माँ, या मेरे गुरु कह रहे हैं, वह मेरी भलाई के लिए ही है, इसलिए मुझे उनकी बात माननी चाहिए। श्रद्धा का मतलब है, अपनी भावनाओं को बुद्धि के हस्तक्षेप से बचाना, और यह षट्-सम्पत्ति का पाँचवाँ अंग है।

समाधान– षट्-सम्पत्ति का छठा अंग है समाधान, जिसका तात्पर्य ऐसी सजगता से है जो एक तत्त्व पर केन्द्रित है, जो हमारे जीवन की सभी समस्याओं और परेशानियों को हल करती है। समाधान का मतलब सत् पर एकाग्रता, सत्य की सजगता। हमारे वेदान्त दर्शन में आदिगुरु शंकराचार्य ने अपरोक्षानुभूति में समाधान शब्द को समझाया है। वे कहते हैं कि यहाँ पर समाधान मस्तिष्क के किसी प्रश्न या जिज्ञासा का हल नहीं है। यहाँ पर समाधान का सम्बन्ध सम्पूर्ण जीवन से है, और जीवन की पूर्णाहुति सत्य में है। जो सत्य के बारे में चिन्तन करे, जो सत्य के प्रति सजग रहे, वह अपने जीवन में समाधान को अपनाता है।

इस प्रकार विचार, विवेक, वैराग्य और षट्-सम्पत्ति (शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा एवं समाधान) वे सद्गुण हैं, जिन्हें एक शिष्य को अर्जित करने का भरसक प्रयास करना चाहिए।

श्रवण

श्रवण शिष्यत्व का एक अन्य महत्त्वपूर्ण पहलू है। श्रवण का मतलब होता है सुनना – अपने गुरु के परामर्शों, उपदेशों, निर्देशों, आदेशों और शिक्षाओं को सुनना, उनके प्रति सजग रहना। गुरु के साथ शिष्य का सम्बन्ध व्यक्तिगत होता है। अगर तुम सजग और सतर्क नहीं रहोगे, तो पता नहीं विशेष रूप से तुम्हारे लिए उपयोगी कौन-सी बात कब कह दी जायेगी और तुम चूक जाओगे।

एक बार एक राजा के दरबार में तीन मूर्त्तियाँ लायी गयीं। वे सभी एक जैसी दिखती थीं। जो आदमी उनको लाया था, उसने राजा से एक प्रश्न किया, 'क्या इस दरबार में कोई बता सकता है कि इन मूर्त्तियों में कौन-सी सबसे श्रेष्ठ है, कौन-सी मध्यम श्रेणी की है, और कौन-सी सबसे निम्न श्रेणी की?' सभी दरबारी इस प्रश्न से अचम्भित हो गए। लेकिन उनमें से एक दरबारी चतुर था। उसने कहा, 'महाराज, मुझे जरा इन मूर्तियों की जाँच कर लेने दीजिये।'

उसने तीनों मूर्त्तियों के चारों ओर घूमकर उनका बारीकी से निरीक्षण किया, उनकी आँखों, नासिकाओं, कानों, सबको ध्यान से देखा। फिर उसने राजा से कहा, 'महाराज, क्या मुझे एक तिनका मिल सकता है?' उसे एक लम्बा तिनका लाकर दिया गया। उसने पहली मूर्त्ति के कान के छेद में एक तिनका डाला। तिनका दूसरे कान से निकल आया। उसने एक और तिनका लिया और दूसरी मूर्त्ति के कान में डाला। तिनका अन्दर गया और मुँह से बाहर निकल आया। तीसरी मूर्त्ति के साथ भी उसने ऐसा ही किया। तिनका कान के अन्दर घुसा और गायब हो गया।

राजा ने कहा, 'वाह! मुझे प्रश्न का उत्तर मिल गया।' क्या तुम लोगों को भी उत्तर मिला? सबसे श्रेष्ठ मूर्त्ति वह थी जिसमें से तिनका बाहर नहीं निकला। इस मूर्त्ति में सुनी हुई बात को पचाने की क्षमता थी। यह मूर्त्ति एक सच्चे शिष्य का प्रतिरूप है। शिष्यों को ऐसा ही होना चाहिए।

तुम जो कुछ सुनते हो, उसे पचाना चाहिए। लेकिन सामान्यतया ऐसा नहीं होता। अधिकतर लोग सुनी हुए बातों को गपशप में उड़ा देते हैं। तिनका उनके मुँह से निकल आता है। तुम लोग इसी श्रेणी में आते हो, जो कुछ तुम सुनते हो उसे उगल देते हो, पचाते नहीं। जब तुम सुनी हुई बातों को ठीक से नहीं पचाते तब उनका मुँह के रास्ते वमन होता है। यह शिष्य की

मध्यम श्रेणी है। वह गुरु के वचन सुनता है और उनको चारों तरफ प्रसारित करना शुरू कर देता है– 'मालूम है आज गुरुजी ने मुझसे क्या कहा?' वह सोचता है, 'गुरुजी मुझे कितना मानते हैं। अब मुझे अन्य लोगों को भी यह बात बतलानी चाहिए ताकि उन्हें मेरी अहमियत के बारे में पता चले। गुरुजी किसी और से इतनी बात नहीं करते, सिर्फ मुझसे इस प्रकार की चर्चा करते हैं।' यह सब अहंकार का खेल है। पता नहीं तुम लोग इस बात को समझते हो या नहीं, लेकिन यह अहंकार-जनित व्यवहार है। और यहाँ बैठे सभी लोग इसके शिकार हैं।

सबसे निम्न श्रेणी का शिष्य वह है जो एक कान से कोई बात सुनता है और वह बात दूसरे कान से बाहर आ जाती है। अन्दर कुछ भी ग्रहण नहीं किया जाता। यह सबसे निम्न श्रेणी है।

तुम अपने भीतर इन तीनों लक्षणों को पाओगे। कई बार तुम कोई बात सुनते हो और उसको नजरअंदाज कर देते हो। उस समय तुम निम्न कोटि के शिष्य हो। कई बार तुम किसी बात को सुनकर उसको सभी से कहते फिरते हो, सिर्फ अपने अहंकार की पुष्टि के लिए। यह मध्यम श्रेणी है। लेकिन कुछ लोग ऐसे होते हैं जो उपदेशों को सुनकर, उन पर चिन्तन-मनन कर उन्हें पचाते हैं और अन्ततः उन्हें अपने जीवन में आत्मसात् करते हैं। यह सर्वोच्च श्रेणी है। इसलिए श्रवण भी शिष्य का एक महत्त्वपूर्ण धर्म है।



शिष्य धर्म

8 अगस्त 2010

अपने जीवन में गुरु-शिष्य सम्बन्ध का अनुभव कर पाना एक दुर्लभ, अनुपम अवसर है। जो इस मार्ग पर अंत तक चल पाते हैं, वे अत्यधिक सौभाग्यशाली होते हैं, क्योंकि वे अपना सारा जीवन दैवी कृपा की छत्र-छाया में व्यतीत करते हैं।

यह यात्रा शुरू होती है अपने जीवन में गुरु की भूमिका की जानकारी और समझ से। गुरु के साथ हमारा उचित सम्बन्ध क्या है, और हम कैसे शिष्य धर्म को निभा सकते हैं।

आध्यात्मिक चेतना की जागृति हर मनुष्य की नियति है। लेकिन क्रम-विकास के किसी विशेष स्तर पर आकर ही आध्यात्मिक जागरण की कामना प्रबल होती है। ऐसे लोग ही जिज्ञासु और मुमुक्षु कहलाते हैं, जो आगे चलकर शिष्य बनते हैं। अन्य दो प्रकार के व्यक्ति आर्त और अर्थार्थी होते हैं और वे गुरु के साथ स्वार्थपरक प्रयोजनों से जुड़ते हैं। लेकिन अपने सम्बन्ध की शुरुआत में चारों प्रकार के व्यक्ति गुरु के प्रति समान रूप से श्रद्धा, प्रेम और भक्ति का विकास करते हैं और गुरु के सान्निध्य में सत्य का संग करते हैं। सभी इस प्रक्रिया से गुजरते हैं।

दीक्षा के साथ गुरु-शिष्य सम्बन्ध का एक नया अध्याय शुरू होता है। दीक्षा के समय ऊर्जा का हस्तांतरण होता है, उसी के बाद गुरु के साथ आध्यात्मिक सम्बन्ध विकसित होता है, उसके पहले नहीं। गुरु द्वारा मंत्र, माला और दीक्षा दिये जाने पर ही गुरु और शिष्य के बीच आध्यात्मिक धरातल पर सम्बन्ध कायम होता है, और यह सम्बन्ध आध्यात्मिक शक्ति से परिपूर्ण होता है। उससे पहले तुम बेशक गुरु के साथ बीस साल तक जुड़े

रहो, उन्हें एक महान् संत के रूप में मानते रहो, लेकिन वह समझ और सम्बन्ध केवल बौद्धिक रहेंगे।

जब तक गुरु के साथ सम्बन्ध केवल बौद्धिक है तब तक वह डाँवाडोल होता रहेगा। तुम अपने गुरु की तुलना अन्य लोगों से करोगे। इस प्रकार का मानसिक या बौद्धिक सम्बन्ध एक जिज्ञासु या मुमुक्षु के शुद्ध संकल्प को परिलक्षित नहीं करता।

जिज्ञासु और मुमुक्षु का विशुद्ध संकल्प ही गुरु-शिष्य सम्बन्ध का पोषण करता है, क्योंकि ये दोनों प्रकार के व्यक्ति ही वास्तव में आध्यात्मिक उपलब्धि के इच्छुक होते हैं। इसलिए अन्ततः यही गुरु के साथ उपयुक्त सम्बन्ध बिठा पाते हैं और शिष्य के धर्म को यथासम्भव निभा पाते हैं।

बाकी लोग जो गुरु का अनुसरण करते हैं वे शिष्य नहीं, ठेला, ढेला और चेला कहलाते हैं। चेला गुरु के प्रति सौ प्रतिशत समर्पित हो, यह कोई आवश्यक नहीं। दस प्रतिशत समर्पण भी चलेगा। लेकिन शिष्य का सौ प्रतिशत समर्पित होना आवश्यक है, उसके बिना शिष्यत्व जागृत नहीं होता। चेला बनकर आदमी अपनी कामनाओं को भी पूरा करे, अपने घर-परिवार का भी चिन्तन करे, गुरु की भी बात माने या न माने, यह उसकी इच्छा पर निर्भर है। लेकिन एक बार वह शिष्य हो जाता है तब फिर उस व्यक्ति के सामने कोई दूसरा विकल्प नहीं रहता।

शिष्य सामान्य व्यक्तियों की तरह नहीं होता। पहले वह वैसा ही था, लेकिन अब उसके भीतर की जिज्ञासा, विश्वास और आस्था, उसको अपनी अंतरात्मा के पास, अपने गुरु के पास खींचकर ले आती है। और जब गुरु के सान्निध्य में रहने की इच्छा, गुरु से एकाकार होने की इच्छा प्रबल होती है तब शिष्य को कुछ धर्मों का पालन करना पड़ता है।

प्रथम सोपान – विचार

जब जिज्ञासु और मुमुक्षु दीक्षित होकर गुरु से सम्बन्ध स्थापित करते हैं और अपनी अंतरात्मा का अन्वेषण करना चाहते हैं, तब उनकी पहली साधना होती है – विचार। उन्हें अपने आप से प्रश्न करना पड़ता है, 'मैं आध्यात्मिक जीवन में क्यों आया हूँ, मैं आध्यात्मिकता की खोज क्यों करना चाहता हूँ?' तुम एक जिज्ञासु या मुमुक्षु हो तो पहले अपने संकल्प को स्पष्ट करो। आखिर तुम किस चीज की तलाश कर रहे हो? फिर विचार के द्वारा, चिन्तन-

मनन के द्वारा आध्यात्मिकता के उस बीज की रक्षा करो जिसे तुमने अपने भीतर बोया है।

जब किसान खेत में बीज बोता है तब वह जंगली पशु-पक्षियों, कीट-पतंगों, खर-पतवारों से उनकी रक्षा भी करता है। इसी प्रकार अपने विशुद्ध संकल्प को भी सतत् विचार द्वारा बचाकर रखना पड़ता है। जब शिष्य गुरु के सान्निध्य में आता है, तब एक शुद्ध संकल्प लेकर आता है, और वही संकल्प जीवन में सबसे बहुमूल्य वस्तु है। उस संकल्प की निरंतर सुरक्षा करनी है। जिस भाव, विचार, श्रद्धा और आस्था के साथ हम गुरु के समीप आये, वही तो कीमती चीज है, जिसकी बाहरी नकारात्मक तत्त्वों से सुरक्षा करनी पड़ती है। हर परिस्थिति में अपने संकल्प की सुरक्षा करनी है। केवल यह कह देना पर्याप्त नहीं कि मेरा प्रयोजन आध्यात्मिक सजगता का विकास है। हमेशा सतर्क रहो कि तुम्हारे मन में कैसे विचार प्रवेश कर रहे हैं और कहीं वे तुम्हें पथभ्रष्ट करने में सक्षम तो नहीं। तुम्हारे मन में भीषण उत्पात मचाने के लिए एक बुरा विचार ही पर्याप्त है।

ऐसे बुरे विचारों से अपनी रक्षा करो जिन्हें अन्य व्यक्ति या परिवेश तुम पर आरोपित करते हैं, या जिन्हें तुम स्वयं प्रतिक्रिया के रूप में अभिव्यक्त करते हो। शिष्य का धर्म निभाने के लिए तुम्हारी सजगता का स्तर इतना ऊँचा होना चाहिए कि तुम अपने अनुभवों के तटस्थ साक्षी, अनासक्त द्रष्टा बन सको। जिस क्षण तुम साक्षी-भाव खो देते हो, तुम दिशाहीन हो जाते हो, अपने मार्ग की स्पष्टता खो देते हो। आध्यात्मिक जीवन का यह एक महत्त्वपूर्ण बिन्दु है, जिसे तुम लोग नहीं समझते। तुम बुरे विचारों को आने देते हो, तुममें उनसे लड़ने की हिम्मत नहीं होती, और वे बुरे विचार आकर तुम्हारे सद्‌गुणों, तुम्हारे अच्छे विचारों को खा जाते हैं। जीवन में पहले जो सकारात्मकता थी, वह अब नकारात्मकता में बदल जाती है और तुम्हारी रचनात्मक क्षमता क्षीण होने लगती है।

आध्यात्मिक यात्रा हर कदम पर द्रष्टा बनने की प्रक्रिया है। तुम्हें अपने आप को परिस्थितियों में उलझाना नहीं, बल्कि उनसे अलग रखना है। अपनी साधना, ध्यान और अन्य आध्यात्मिक प्रयासों के माध्यम से तुम्हें सतत् विचार के स्तर तक आना है, जहाँ तुम अच्छे विचारों का सृजन कर अपनी रक्षा कर सको, जहाँ तुम अपने मन, इन्द्रियों और बाहरी वातावरण के नकारात्मक प्रभावों से बचने के लिए सत्संकल्पों का कवच खड़ा कर सको।



एक बार विचार द्वारा संकल्प स्पष्ट हो जाए, और उस नव-अंकुरित संकल्प की रक्षा करने की क्षमता आ जाए, तब शिष्य को अपने जीवन में चार आधार स्थापित करने पड़ते हैं, जो आध्यात्मिक पथ पर द्रुत गति से बढ़ने में सहायक होते हैं। ये चार आधार चार पहियों की तरह होते हैं, जिनसे गाड़ी चलती है। यही पहिये शिष्यत्व को आगे बढ़ाते हैं।

शिष्यत्व के चार पहिये

विवेक – पहला पहिया विवेक का अर्जन है। विवेक का मतलब होता है उचित और अनुचित के बीच अंतर जानना। यह ज्ञान बौद्धिक नहीं होता। इस पर सोच-विचार नहीं किया जाता, बल्कि यह क्षमता अन्तर्प्रज्ञा से उत्पन्न होती है, जिसके माध्यम से हमें सही दिशा का बोध स्वयमेव हो जाता है। शिष्य धर्म निभाने में बौद्धिक कसरत या उछल-कूद का कोई स्थान नहीं। शिष्य को अपने आप, सहज रूप से अन्तर्ज्ञान होते जाना चाहिए। विवेक एक सहज प्रक्रिया बन जानी चाहिए।

'यह सही है या गलत? यह उचित है या अनुचित? यह अच्छा है या बुरा?' जबरदस्ती बैठकर ऐसा सोच-विचार करने से विवेक का अर्जन नहीं होता। अगर तुम्हारी बुद्धि मनमानी करती है, तो तुम अवश्य ऐसी प्रक्रिया से गुजरोगे। लेकिन वास्तव में विवेक एक स्वाभाविक प्रक्रिया होनी चाहिए, जिसमें ज्ञान स्वत: होने लगे। जीवन में कई चीजों का ज्ञान हमें स्वत: होता है, लेकिन जब सारा जीवन इस स्वत:स्फूर्त सजगता के दायरे में आ जाता है, तब हम दावे के साथ कह सकते हैं कि हमारा विवेक वास्तव में जागृत हो गया है। उस अवस्था में विवेकशक्ति हमेशा हमें गलत काम करने से रोकेगी।

इच्छाओं ने हमारे मन पर जो पकड़ बना रखी है, उसे विवेक ही दूर कर सकता है। कौन-सी इच्छा की पूर्ति हमारी पहुँच के भीतर है और कौन-सी इच्छा हमारा दिवा-स्वप्न है, यह भेद जान लेने पर इच्छाएँ अपने आप कम होने लगती हैं। अगर यह बात तुम्हारी समझ में आ जाए, तो तुम पाओगे कि ऐसी बहुत कम इच्छाएँ हैं जिनकी पूर्ति जीवन के लिए आवश्यक है, बाकी सभी इच्छाएँ अनावश्यक हैं। इसलिए जब विवेक जागृत होता है, हम केवल अपनी आवश्यक इच्छाओं को पूरा करते हैं, और उन सब इच्छाओं को तिलांजलि दे देते हैं जो हमारी महत्त्वाकांक्षाओं और आसक्तियों के कारण पैदा हो गयीं थीं।

वैराग्य – दूसरा पहिया या आधार है वैराग्य, अर्थात् सभी प्रकार के भोग विषयों से निर्लिप्त रहना, जो सामान्य रूप से हमारा ध्यान अपनी ओर आकृष्ट कर लेते हैं। वैराग्य मन की एक ऐसी अवस्था है जो विचार एवं ध्यान द्वारा जागृत होती है और विवेक से इसका विकास होता है। यह जान लेने पर कि क्या आवश्यक है और क्या नहीं, अनावश्यक चीजों के प्रति उदासीनता अपने आप जागती है।

वस्तुओं, व्यक्तियों, परिस्थितियों और घटनाओं से लगाव और उन पर निर्भरता जैसे-जैसे घटने लगती है, वैसे-वैसे हम वैराग्य पथ पर आगे बढ़ते जाते हैं। वैराग्य इच्छाओं को नकारना या उनका दमन करना नहीं है। यह किसी चीज का त्याग भी नहीं। वैराग्य का तात्पर्य सभी चीजों के बीच रहते हुए भी अपने आप को मुक्त और स्वतंत्र रखने से है। सभी चीजें अपनी जगह रहती हैं, केवल उनका प्रभाव और उनके प्रति आसक्ति छूटती जाती है। तुम उस कमल के पत्ते की तरह बन जाते हो, जो जल में रहते हुए भी जल से अछूता रहता है – *पद्मपत्रमिवाम्भसा*।

जब हम वैराग्य के मार्ग पर चलते हैं तब सुख के प्रति स्वाभाविक मानसिक आकर्षण पर नियंत्रण प्राप्त होता है। जो मन लगातार इन्द्रिय सुख और विषय भोग के पीछे भाग रहा था, उसे अब दिशान्तरित किया जा सकता है। यह वैराग्य की मुख्य उपलब्धि है। वैराग्य तुम्हारे व्यक्तित्व को संतुलित बनाता है, मानसिक गतिविधियों को स्थिर करता है और प्राणिक ऊर्जाओं को शान्त करता है, जिससे तुम शान्ति और आनन्द का अनुभव कर पाते हो।

राग से मन, इन्द्रियों और भावनाओं में उपद्रव मच जाता है। पूरा जीवन अस्त-व्यस्त हो जाता है। फिर भी हम इन आसक्तियों से चिपके रहते हैं। हमें इनसे उत्पन्न परेशानियों और झंझटों से लगाव हो जाता है। जब तुम अपने आप को इनसे मुक्त कर पाओगे तब तुम अपने वातावरण से एक अलग प्रकार का सम्बन्ध स्थापित करोगे, जो अधिक रचनात्मक, सकारात्मक और आसक्ति-रहित होगा। तब ही तुम अपने परिवार और समाज के उत्थान में योगदान देने लायक बन सकोगे।

षट्-सम्पत्ति– शिष्यत्व का तीसरा आधार है षट्-सम्पत्ति, यानि ऐसे गुणों से अपने आपको युक्त करना जो आध्यात्मिक सजगता की जागृति में सहायक हैं। षट्-सम्पत्ति के अन्तर्गत छः गुण या सम्पत्तियाँ आती हैं। लेकिन यह सम्पत्ति भौतिक नहीं है। रुपये-पैसे, जमीन-जायदाद, गाड़ी-बंगले या जूते-कपड़े से इसका कोई सम्बन्ध नहीं। यह व्यक्ति का निजी धन है, निजी सम्पत्ति है, जो उसकी चेतना को प्रकाशित करती है, उसके हृदय के द्वार खोलती है और उसके जीवन को व्यवस्थित करती है। इस षट्-सम्पत्ति को प्राप्त करना ही मनुष्य जीवन का प्रयोजन होता है। ये व्यावहारिक सद्गुण हैं, जिन्हें तुम सतत् प्रयत्न द्वारा अवश्य प्राप्त कर सकते हो।

पहली निधि है *शम,* अनर्गल इच्छाओं का त्याग। यह जानना कि हमें क्या चाहिए और क्या नहीं। जो नहीं चाहिए उसे हटाते जाना है और जो जरूरी है उसे प्राप्त करने का प्रयास करना।

अपनी इच्छाओं और महत्त्वाकांक्षाओं के प्रति सजग बनकर जानो कि क्या यह मेरे हित में है, मेरे उत्थान में सहयोग देगी, या यह मेरी कल्पना मात्र है जिसका मेरे जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं। इस प्रकार अपने मन में उठने वाली इच्छाओं, वासनाओं, कामनाओं और महत्त्वाकांक्षाओं के द्रष्टा बनकर, अनर्गल इच्छाओं का त्याग करते जाओ, अपने झोले

को थोड़ा खाली करते जाओ, हल्का बनाते जाओ। हमारी इच्छाओं, महत्त्वाकांक्षाओं और वासनाओं का जो झोला है, वह अभी बहुत भारी है और हम लोग रोज उसी को घसीटते हुए चलते हैं। थोड़ा खाली करोगे तो हल्का महसूस करोगे।

जरा सोचो कि आज तक तुम्हारे जीवन में जितनी भी इच्छाएँ थीं, क्या वे सौ प्रतिशत पूरी हुई हैं। नहीं। तुम्हें वही प्राप्त हुआ जो तुम्हारे लिए आवश्यक था। और जो आवश्यक नहीं था, वह तुम्हें नहीं मिला। उसके लिए महत्त्वाकांक्षा भले ही रही हो, लेकिन प्राप्ति नहीं हुई। तुम चाहे जितना भी हाथ-पैर मारो, तुमको वही मिलने वाला है जो तुम्हारी नियति में लिखा है। इसलिए जो नियति में नहीं है, उसके बारे में सोचकर हम अपने आप को परेशान क्यों करें?

दूसरी निधि है *दम*, इन्द्रियों का संयम। इन्द्रियों की चंचलता को रोकने का प्रयास करो, क्योंकि जब तक इन्द्रियाँ चंचल होती हैं तब तक मन, बुद्धि, भावना और प्राण, सब चंचल रहते हैं और अगर तुम इन्द्रियों की चंचलता को शान्त कर सकते हो तो ये सभी अपने आप शान्त हो जायेंगे।



तीसरी निधि है *उपरति*, उन वस्तुओं और परिस्थितियों की उपेक्षा करना जो क्षणिक सुख प्रदान करती हैं। अगर तुम्हें शाश्वत सत्य की खोज है तो क्षणभंगुर चीजों का त्याग करो। लेकिन याद रखो कि ये धर्म सिर्फ जिज्ञासु और मुमुक्षु के लिए हैं। वे पहले से ही इस मार्ग पर चल रहे हैं, वे सब बन्धनों से मुक्त होना चाहते हैं। इसलिए उनके लिए यह कहना कठिन नहीं होता, 'ठीक है, मैं उस दिशा में नहीं जाऊँगा। मेरी भूमिका, मेरा लक्ष्य, मेरा मार्ग स्पष्ट है।' इस भाव को सजगता, समझ-बूझ और चिन्तन से पुष्टि मिलती है, मन में यह विचार प्रबल होता है कि 'मैं इन छोटे-मोटे आकर्षणों और आसक्तियों से मुक्त हूँ।' इसलिए विवेक के बिना उपरति सिद्ध नहीं हो सकती। तुम्हें मालूम होना चाहिए कि तुम्हें किस चीज की जरूरत है और किसकी नहीं, और तदनुसार उन चीजों को छोड़ते जाओ जो बन्धन का कारण बन सकती हैं और उन्हें अपनाते जाओ जो उपयोगी और लाभदायक हैं।

चौथी सम्पत्ति है *तितिक्षा*, धैर्य का विकास। ऐसा न हो कि तुम भगवान से प्रार्थना करो, 'प्रभु, मुझे धैर्य प्रदान करो' और मन-ही-मन यह भी कहो, 'अभी, इसी वक्त!' तितिक्षा एक स्थिर और शान्त मन का लक्षण है। एक विक्षिप्त और विचलित मन में धैर्य का अभाव होता है। लोग अपने मन की विक्षिप्तता को छुपाने के लिए अक्सर कहते हैं, 'मैं बहुत व्यस्त हूँ, मुझे बहुत-से काम करने हैं।' तितिक्षा मन की ऐसी अवस्था है जहाँ बाहरी गतिविधियाँ मन की शान्ति को भंग नहीं करतीं। तुम किसी भी विचार, भावना, आकांक्षा, इच्छा या कर्म द्वारा विचलित नहीं होते।

तितिक्षा का मतलब सहनशीलता भी होता है। हमारे परम गुरु, स्वामी शिवानन्द जी कहा करते थे, 'प्रकृति तुम्हें कष्ट में इसलिए डालती है कि तुम एक महामानव बन सको।' प्रकृति या दैवी विधान तुम्हें कष्टभरी परिस्थितियों में इसलिए डालता है कि जब तुम कष्ट में पड़ते हो, तब उससे मुक्त होने के लिए संघर्ष करते हो और उस संघर्ष से तुम अन्तत: एक महामानव बनते हो। तुम्हारा दिल और दिमाग मजबूत होता है, तुम्हारे कंधे मजबूत होते हैं। इसलिए 'मिले दु:ख ताप से शान्ति, न ऐसी प्रार्थना मेरी'। हमारी प्रार्थना हो कि हमारे कंधे मजबूत बनें, हमारी बुद्धि और भावनाएँ मजबूत बनें ताकि हम जीवन की परेशानियों, परिस्थितियों और दु:खों को मुस्कुराते हुए झेल सकें। जो व्यक्ति विपरीत परिस्थितियों को नहीं झेल

पाता, वह बहुत ही कमजोर आदमी है, वह टूट जाता है। इसलिए तितिक्षा का मतलब धैर्य और सहनशीलता, दोनों होता है। जैसी भी परिस्थिति है, उसमें जीना है।

धैर्य और सहनशीलता प्रकृति के नियम हैं। आदमी को छोड़कर कौन-सा जानवर गर्मी के दिनों में एयर-कण्डीशनर और सर्दी के दिनों में हीटर की खोज करता है? कौन-सा जानवर नहाने के लिए गर्म पानी की खोज करता है या पीने के लिए बिसलेरी की बोतल तलाशता है। सभी प्राणी प्रकृति के नियमानुसार जीते हैं। गर्मी है तो गर्मी को झेलते हैं, ठण्ढ है तो ठण्ढ को झेलते हैं। परेशान नहीं होते। लेकिन आदमी ही इस संसार का बिगड़ा हुआ जानवर है। वह गर्मी और सर्दी को नहीं झेल सकता। बाकी सब प्रकृति के नियमों का पालन करते हैं, क्योंकि उनमें तितिक्षा होती है।

हमारे गुरुजी पहाड़ी शरीर वाले थे, जब मुंगेर में रहते थे तब गर्मी को सहन नहीं कर पाते थे। अपने निवास-स्थान में उन्होंने सेन्ट्रल एयर-कण्डीशनिंग लगा दिया था। वे सत्ताइस डिग्री से ज्यादा तापमान को सहन नहीं कर सकते थे। लेकिन पंचाग्नि करते हुए वे अस्सी-नब्बे डिग्री तापमान में बैठे रहते थे। किस गुण की वजह से यह सम्भव हुआ? सहनशीलता, धैर्य और तितिक्षा के कारण।

पाँचवीं सम्पत्ति है *श्रद्धा* । श्रद्धा या तो ईश्वर में हो सकती है, या गुरु के प्रति या फिर सत्य के प्रति। ईश्वर, गुरु और सत्य – श्रद्धा का सम्बन्ध मात्र इन तीनों से है, चौथी किसी चीज से नहीं। और इसी श्रद्धा को विकसित करना है, बढ़ाना है। उपनिषदों में कहानी आती है कि एक बार किसी राज्य में अकाल पड़ा, अनावृष्टि हो गई। बरसों तक पानी गिरा ही नहीं। सब खेत सूख गये, पशु मर रहे थे, धरती चरमरा गई थी, लोग अपने खेत-खलिहान छोड़कर दूसरी जगह जा रहे थे। उस क्षेत्र के राजा को लगा कि अगर बरसात नहीं होगी तो मेरा राज्य खाली हो जायेगा। वीरान और बंजर जमीन के सिवा कुछ नहीं रहेगा। उसने पण्डितों से पूछा कि क्या करना चाहिए। उन्होंने कहा कि इन्द्रदेव को प्रसन्न करने के लिए यज्ञ करना चाहिए।

यज्ञ होने लगा। पूरे राज्य के लोग उस यज्ञ में भाग लेने आये। जिस दिन यज्ञ सम्पन्न होने वाला था उस दिन एक लड़का छाता लेकर वहाँ पहुँच गया। उसे देख वहाँ उपस्थित सभी लोग हँसने लगे, 'यह कैसा बावला लड़का है! अकाल के समय छाता लेकर आया है। आसमान में मीलों तक कोई बादल

नहीं दिखलाई दे रहा। चारों तरफ केवल तपतपाती धूप है और यह लड़का छाता लेकर आया है। पागल है क्या!'

उस लड़के ने जवाब दिया, 'आप किसके ऊपर हँस रहे हैं? आपके राज्य में अकाल पड़ा है, आप लोग इस अकाल को दूर करने के लिए यज्ञ कर रहे हैं, लेकिन आपमें यह श्रद्धा है ही नहीं कि इस यज्ञ से बारिश होगी। अगर आप में श्रद्धा होती तो आपको इस यज्ञ का फल भी अवश्य प्राप्त हो गया होता। मैं तो इस विश्वास के साथ आया हूँ कि जहाँ पर समस्त राज्य के लोग एकत्र होकर बरसात के लिए ईश्वर से प्रार्थना कर रहे हैं, उनकी प्रार्थना प्रभु जरूर सुनेंगे और वर्षा अवश्य होगी।' जैसे ही उस लड़के के मुख से ये उद्‌गार निकले, आसमान काले बादलों से भर गया और इतनी बारिश हुई कि यज्ञ मण्डप बह गया, सभी लोग भीग गये, केवल वही लड़का अपने छाते के नीचे मस्त खड़ा था, सूखा खड़ा था।

इसको कहते हैं श्रद्धा। एक छोटे-से लड़के की श्रद्धा से इन्द्रदेव का सिंहासन डोल गया, जबकि लाखों के यज्ञ से कुछ नहीं हुआ, क्योंकि कोई सच्चे भाव से जुड़ा ही नहीं था। यह हमारे जीवन का कड़वा सच है, हम कर्म करते हैं, लेकिन उस कर्म से जुड़ते नहीं। मान्यता है बस, श्रद्धा नहीं। इसलिए हमारे जीवन में श्रद्धा कभी पूर्ण रूप से जाग्रत नहीं होती।

श्रद्धा तो सत्य से साक्षात्कार है। जिस भावना, जिस चिन्तन का आधार सत्य हो, उसी को श्रद्धा कहते हैं। इस श्रद्धा को विवेक के द्वारा बढ़ाया जाता है और विचार के द्वारा इसका संरक्षण किया जाता है।

छठी सम्पत्ति है *समाधान*– सत्य पर, दिव्यता पर, गुरु पर ध्यान। सत्य के साथ सम्बन्ध बनाना समाधान है। इस तरह इन छः गुणों से तीसरा आधार बनता है। ये हमारे जीवन की आंतरिक निधियाँ हैं, गुण हैं, उपलब्धियाँ हैं। ये छः सम्पत्तियाँ अगर तुम्हारी जेब में रहेंगी तो तुम्हें कभी किसी चीज की कमी नहीं होगी, क्योंकि यह सम्पत्ति स्थायी है। इसको जितना खर्च करते हो, उतनी ही बढ़ती जाती है। भौतिक सम्पति को तुम जितना खर्च करोगे, जेब उतनी खाली होगी, लेकिन आध्यात्मिक सम्पत्ति को तुम जितना खर्च करोगे, उसमें उतनी वृद्धि होगी।

मुमुक्षुत्व– चौथा पहिया है मुमुक्षुत्व, अर्थात् मुक्ति की प्रबल इच्छा, जो व्यक्ति को दत्तचित और दृढ़संकल्प बनाती है। इस इच्छा की प्रबलता ही इसके नैरन्तर्य को सुनिश्चित करती है, इसके स्तर में कमी नहीं आने देती।

यह इच्छा जितनी प्रबल होती जाती है, उतनी अधिक प्रेरणा और संकल्प शक्ति तुम्हें प्राप्त होती जाती है। मैं सही मार्ग पर चल रहा हूँ, तुम्हारा यह विश्वास दृढ़ होता जाता है।

हमने आप लोगों को एक व्यक्ति की कहानी सुनायी थी, जो रामकृष्ण परमहंस से मिलने आया और उन्होंने उसे पानी के अंदर डुबा दिया। आदमी साँस लेने के लिए छटपटाने लगा। तब रामकृष्ण परमहंस ने उस आदमी से कहा कि जैसी छटपटाहट तुमको पानी से बाहर निकलने के लिए हुई, वैसी ही छटपटाहट अगर संसार के बंधनों से मुक्त होने के लिए हो जाए, तो तुम तुरंत मुक्त हो सकते हो। लेकिन उस भाव में तीव्रता का होना आवश्यक है, वह वैचारिक भाव नहीं होना चाहिए। जो वैचारिक भाव रखते हैं, वे दार्शनिक होते हैं। वे चिन्तन-मनन करते हैं, पढ़ते-लिखते हैं, सोचते-समझते हैं, लेकिन उनके भाव खोपड़ी या बुद्धि तक ही सीमित रहते हैं। लेकिन जो साधक होता है, जो शिष्य होता है, उसके अंदर अपने आपको मुक्त करने की एक व्याकुलता होती है और उसी तीव्र व्याकुलता को कहते हैं मुमुक्षुत्व।

आध्यात्मिक जीवन के इन आधारों का प्रयोजन इस बात को सुनिश्चित करना है कि तुम्हारी सजगता अपने लक्ष्य पर केन्द्रित रहे और तुम व्यर्थ की अवधारणाओं, आलोचनाओं और अन्य नकारात्मक तत्त्वों से प्रभावित न होओ। यह पाठ कठिन तो है, लेकिन जरूरी भी।

श्रवण का महत्त्व

शिष्य का अगला धर्म है श्रवण, गुरु के उपदेशों को ध्यानपूर्वक सुनना और उनका अक्षरश: पालन करना। गुरु शिष्य की आध्यात्मिक आवश्यकता और उसकी समझ एवं निष्ठा के स्तर के अनुसार मार्गदर्शन देते हैं। इसलिए कहा जाता है कि गुरु से जो भी उपदेश मिले, उसे अपने तक ही सीमित रखना चाहिए, दूसरों को नहीं बताना चाहिए। लेकिन लोग गुरु से मिले निर्देशों और उपदेशों को मिर्च-मसाला लगाकर एक-दूसरे को बतलाते हैं, केवल यह प्रमाणित करने के लिए कि मैं विशेष व्यक्ति हूँ और गुरु के बहुत निकट हूँ। केवल मैं भाग्यशाली हूँ, दूसरे नहीं।

ऐसा व्यक्ति कहता है, 'गुरुजी ने मुझसे यह सब कहा है। उन्होंने मुझे ये विशेष निर्देश दिये हैं।' ऐसी बातें सुनने वाले लोग सोचने लगते हैं, 'गुरुजी



इस व्यक्ति को बहुत चाहते हैं और इसका मान भी बहुत रखते हैं। इसीलिए वे उसके आध्यात्मिक विकास के लिए विशेष मार्गदर्शन देते हैं, लेकिन मुझे उन्होंने आज तक कुछ नहीं दिया।' इस तरह अन्य लोग नकारात्मक रूप से प्रभावित हो जाते हैं। एक चेले का अहंकार दूसरे चेलों को छलता है। तुम सब इस प्रक्रिया से गुजर चुके हो, लेकिन फिर भी यही गलती दुहराते रहते हो। इसलिए मैं तुम सब को याद दिला रहा हूँ कि जब तुम यह जाहिर करना चाहते हो कि मैं एक विशेष व्यक्ति हूँ, जिसका गुरुजी से अति निकट सम्बन्ध है, तब यह केवल तुम्हारे अहंकार का खेल है, जो दूसरे चेलों को गुमराह कर रहा है। शास्त्र और गुरु तो ठीक उल्टी बात कहते हैं – अगर गुरु तुम्हें कुछ बताते हैं, तो वह उपदेश सिर्फ तुम्हारे लिए है।

व्यक्ति-व्यक्ति के बीच तुलना करना निरर्थक है। सामान्यतया हम लोगों को दो समूहों में विभाजित कर देते हैं – पहला, जिनके पास कोई चीज है और दूसरा, जिनके पास वह चीज नहीं है। दूसरा समूह हमेशा पहले समूह से तुलना करता है और अपने आप को खाली हाथ देख माँगें पेश करता रहता है, 'उन लोगों के पास जो चीज है, वह मुझे क्यों नहीं मिल सकती?' यह अहंकार-जनित अभिव्यक्ति है। दुनियादारी में भले ही इसका स्थान हो, लेकिन आध्यात्मिक परिवेश में इसका कोई स्थान नहीं। यहाँ लक्ष्य और संकल्प बिल्कुल अलग होना चाहिए।

जब तुम दूसरों को बतलाते हो कि गुरुजी ने मुझे ऐसा करने को कहा है और मैं कर रहा हूँ, तब फिर यह मान कर चलो कि उस उपदेश, उस शिक्षा, उस साधना की ऊर्जा क्षीण हो गई है। अब दूसरे लोगों के विचार, भावनाएँ और मान्यताएँ तुम्हें प्रभावित करेंगी, गुरु का कर्म नहीं। तुम पर गुरु से ज्यादा दूसरों का प्रभाव है। याद रखो, दूसरे चेलों को भी गुरु उपदेश प्राप्त हुआ है। उन्हें उनके निर्देशों के अनुसार चलने दो, और तुम अपने अनुसार चलो।

श्रवण एक दुर्लभ सद्‌गुण है। अगर तुम ध्यानपूर्वक सुन सकते हो तो तुम गुरु के उपदेशों और मनोरथों को समझ सकोगे। अगर तुम प्रत्येक निर्देश का पालन करते हो और विवेक के साथ उसे अपने जीवन में उतारते हो, तो तुम अवश्य उस लक्ष्य को प्राप्त करोगे जिसकी ओर गुरु इंगित कर रहे हैं।

कुछ ही शिष्य होते हैं जो गुरु-शिष्य सम्बन्ध के आदर्शों को, उसकी मर्यादा को बनाए रखते हैं। गुरु से कोई आज्ञा मिलने पर वे ढिंढोरा नहीं पीटते, बल्कि चुपचाप कार्यरत हो जाते हैं। अगर ढिंढोरा पीटोगे तो अवश्य अवरोध का सामना होगा। लेकिन जब चुपचाप काम करोगे तो किसी को मालूम भी नहीं पड़ेगा और तुम अपने प्रयोजन में सफल हो जाओगे।

विनम्रता

शिष्य के लिए विनम्रता एक अन्य उपार्जनीय गुण है। अहंकारी शिष्य का हमेशा पतन होता है, जबकि विनम्र शिष्य जीवन में बाजी मार लेता है। जो शिष्य घमण्डी और अभिमानी है, जिसने अपने मन, इन्द्रियों और भावनाओं की तेज धार को परिष्कृत नहीं किया है, वह अपने आप को और साथ ही अन्य लोगों को भी क्षत-विक्षत करेगा। व्यक्तित्व की तेज धार का परिष्कार अनिवार्य है, और यह विनम्रता द्वारा ही सम्भव है।

आँधी-तूफान में बड़े और कड़े पेड़ ही टूटते हैं, जबकि लचीले पेड़ आँधी के थपेड़ों को झेल जाते हैं और दुबारा सीधे खड़े हो जाते हैं। विनम्रता आंतरिक लचीलेपन का परिचायक है, जबकि अभिमान और घमण्ड कठोरता को दर्शाता है। आखिर एक नदी कैसे बहती है? जब रास्ते में उसे कोई चट्‌टान मिलती है तब क्या वह उस पर अपना सिर फोड़ती रहती है या उसकी बगल से निकलने का मार्ग खोजती है? अगर नदी अहंकारी है, तो वह चट्‌टान से जूझती रहेगी, लेकिन अगर नदी सिर्फ बहना चाहती है, तो वह उसकी बगल से अपना रास्ता निकाल लेगी।

जब हम विनम्रता के प्रवाह में बहते हैं, तब हृदय और भावनाओं की कोमलता परिलक्षित होती है। जबकि दम्भाचार में अहंकार की कठोरता प्रमुख रहती है। विनम्रता द्वारा हमें अन्य सद्‌गुणों के उपार्जन का अवसर मिलता है, जबकि अभिमान और अहंकार सद्‌गुणों का सत्यानाश करते हैं। इसलिए जीवन में विनम्रता विकसित करना शिष्य का एक धर्म है। इसके बिना शिष्यत्व सिद्ध नहीं हो सकता।

अपरिग्रह

अगला सिद्धान्त, जिसे एक शिष्य को अपने जीवन में लागू करना चाहिए, वह है अपरिग्रह। अपरिग्रह का यह मतलब नहीं कि तुम अपनी सारी सम्पत्ति का त्याग कर दो। इसका तात्पर्य है अपनी जरूरतों को कम-से-कम करना। अलमारी में तीस-चालीस सूट रखने की बजाय तीन-चार रखो, जिनसे तुम्हारा काम चल जाए। अगर तुम्हें नये की जरूरत पड़ेगी तो उस समय दुकान से खरीद लेना।

अपरिग्रह का मतलब होता है अपनी अलमारी को छोटा करना, अपनी भौतिक आवश्यकताओं को कम करना। हमारे पास इतनी सारी चीजें रहती हैं जिनका हम कभी उपयोग तक नहीं करते, लेकिन फिर भी सालों तक वे हमारी अलमारियों में विराजती हैं। अपरिग्रह की अवस्था में तुम भौतिक वस्तुओं पर निर्भर नहीं रहते, बल्कि आवश्यकतानुसार उन्हें उपयोग में लाते और फिर छोड़ देते हो।

गुरु-शिष्य सम्बन्ध के सोपान

शिष्य के धर्म को पूरी तरह समझने के लिए गुरु-शिष्य सम्बन्ध के आधार को भी समझना जरूरी है। शरीरधारी गुरु के साथ सबसे पहले भौतिक धरातल पर एक सम्बन्ध स्थापित होता है। यह सम्बन्ध बौद्धिक, भावनात्मक या आध्यात्मिक प्रकृति का हो सकता है।

प्राय: लोग शुरू में बौद्धिक सम्बन्ध ही स्थापित करते हैं। वे किसी गुरु के यहाँ जाते हैं, उनके प्रवचन सुनते हैं, गुरु की बातें उन्हें पसन्द आती हैं और दिमाग में बैठ जाती हैं। 'ये महानुभाव तो बहुत कुछ जानते हैं। ये किसी भी विषय पर प्रवचन दे सकते हैं, हमारे प्रश्नों और शंकाओं का स्पष्ट समाधान कर देते हैं', ऐसे विचारों के साथ गुरु से बौद्धिक सम्बन्ध की स्थापना होती



है। गुरु के स्पष्ट विचार और व्याख्यान तुम्हारी बौद्धिक जिज्ञासा को संतुष्ट करते हैं और तुम्हें उनकी ओर आकृष्ट करते हैं।

इसके बाद कुछ लोगों में एक भावनात्मक सम्बन्ध और भावनात्मक निर्भरता पनपती है। गुरु उनके जीवन का अंग तो बन जाते हैं, लेकिन उन्हें अपनी भावनाओं को सम्भालना नहीं आता। उन्हें यह समझ में नहीं आता कि गुरु को अपने जीवन में कौन-सा स्थान दें। इसलिए मन भ्रमित रहता है। कुछ लोग गुरु को पिता मानते हैं, कुछ लोग भाई और कुछ लोग तो अपना पति तक मानते हैं। जैसा भी हो, यह एक सम्बन्ध है, जिसका उनके जीवन में धीरे-धीरे विकास होता है। इस भावनात्मक सम्बन्ध में परावलम्बन रहता है। 'आपने आश्वासन दिया, पर वैसा नहीं हुआ', गुरु के साथ भावनात्मक आसक्ति हो जाने पर मन में इस प्रकार के भाव उठते हैं।

विरले ही लोग गुरु के साथ आध्यात्मिक सम्बन्ध स्थापित करते हैं। उनका सम्बन्ध अलग प्रकार का रहता है। उस सम्बन्ध में आज्ञाकारिता होती है। भावनात्मक सम्बन्ध वाले लोग आज्ञाकारी नहीं होते, वे केवल बोलना जानते हैं। उसी से उनकी भावनात्मक कुण्ठाओं का निकास होता है। लेकिन आध्यात्मिक प्रवृत्ति वाले लोग आज्ञा का पालन करना जानते हैं। और गुरु के प्रति आज्ञाकारिता शिष्य की प्राथमिक योग्यता है।

आज्ञाकारिता का पाठ

मुझे श्री स्वामीजी के साथ एक पुरानी आपबीती याद आ रही है। उस समय श्री स्वामीजी पुराने आश्रम में रहते थे और हम आश्रम में नए-नए आए थे। एक दिन जब वे अपने कमरे से बाहर निकले, तो उनके हाथ में चॉकलेट के कुछ टुकड़े थे। उस जमाने में चॉकलेट एक खास चीज होती थी। मैं साठ के दशक की बात कर रहा हूँ, उस समय भारत में चॉकलेट नहीं मिलती थी। जब विदेशी लोग आश्रम आते थे, तब साथ में चॉकलेट लाते थे और सबसे छोटा होने के नाते सबसे पहले चॉकलेट मुझे मिला करती थी।

श्री स्वामीजी ने मुझसे पूछा, 'मीठा खाना है?' मैंने कहा, 'जी हाँ।' उन्होंने कहा, 'ठीक है। लेकिन एक शर्त पर कि तुम कड़वा भी खा सको।' मैं चौंक गया। सोचने लगा कि कड़वे से उनका क्या मतलब हो सकता है, न जाने कौन-सी कड़वी चीज मुझे देंगे। मैंने झटपट निर्णय लिया और बहादुरी दिखाते हुए कहा, 'मैं तैयार हूँ।' यह एक बहुत बड़ी गलती साबित हुई! श्री स्वामीजी ने दूसरा हाथ खोला तो उसमें दो बड़ी-बड़ी हरी मिर्चियाँ थीं। उन्होंने कहा, 'अगर तुम चॉकलेट चाहते हो तो तुम्हें मिर्ची का तीखापन भी झेलना पड़ेगा। मिर्ची के तीखेपन में भी तुम्हें वैसा ही आनन्द आना चाहिए जैसा चॉकलेट के मीठेपन में।'

मैंने उनके हाथ से मिर्चियाँ लीं और मुँह में डाल लीं। फिर क्या था, उन्हें चबाता गया और रोता गया, चबाता गया और रोता गया, मानो मुँह में आग लगी हो! मिर्ची खत्म करने के बाद उन्होंने मुझे चॉकलेट दी। एक बहुत ही सरल और साधारण तरीके से उन्होंने मुझे एक बहुत बड़ा पाठ सिखला दिया। आज भी जब चॉकलेट मेरे सामने होती है, तब मुझे वे दो मिर्चियाँ दिखलायी देती हैं। इसी तरह से मेरा प्रशिक्षण हुआ है और यह सम्भव हुआ आज्ञाकारिता की वजह से। अगर आज्ञाकारिता नहीं होती तो मैंने शायद कह दिया होता, 'नहीं, मुझे मिर्चियाँ नहीं, सिर्फ चॉकलेट चाहिए।'

शिष्य के लिए आज्ञाकारिता एक अनिवार्य गुण है। जब गुरु शिष्य के अहंकार-निर्मूलन का प्रयास करते हैं, तब कई बार शिष्य की ओर से भीषण प्रतिक्रिया होती है। अहंकार इतनी आसानी से मिटना नहीं चाहता। अगर कोई तुम्हारे पास आकर कहे, 'मैं तुम्हारा सिर काटने आया हूँ', और ऐसा कहकर एक बड़ा-सा छुरा निकाले तो क्या तुम उसे ऐसा करने दोगे? हरगिज़ नहीं। उसी तरह अगर गुरु भी छुरा निकालकर कहते हैं, 'मैं तुम्हारे अहंकार

को मिटाने जा रहा हूँ', तो तुम ऐसा होने नहीं देते। अगर तुम गुरु को अपने पर यह शल्य-क्रिया करने की अनुमति नहीं दे सकते, तो तुम शिष्य कहलाने लायक नहीं। इसी मोड़ पर आज्ञाकारिता की उपयोगिता चरितार्थ होती है। गुरु कहते हैं, 'शीश झुकाओ।' तुम जवाब देते हो, 'जी, बहुत अच्छा।' वे कहते हैं, 'मैं इसे काटने जा रहा हूँ।' तुम कहते हो, 'यह आपका ही तो है, जैसा चाहे कीजिये।' एक सामान्य कथन, एक सामान्य भाव तुम्हारे संकल्प को दर्शाता है। तुम चाहो तो यह भी कह सकते हो, 'नहीं, आप मेरा सिर नहीं काट सकते।' इस छोटे-से वाक्य से पूरा संकल्प बदल जाता है। आज्ञाकारिता के दर्पण में ही शिष्य का संकल्प अपने वास्तविक रूप में दिखलायी देता है।

आज ई-मेल और फैक्स के युग में भले ही बहुत कम डाकिये बचे हों, लेकिन एक समय था जब सभी लोग अपनी चिट्ठियों के लिए डाकिये का बेसब्री से इन्तजार किया करते थे। डाकिये के झोले में हजारों रुपयों के मनी ऑर्डर, चेक और ड्राफ्ट रहा करते थे। लेकिन उसका काम था, उन्हें सही ठिकाने तक पहुँचाना। वह उन रुपयों का उपयोग अपने लिए नहीं करता था। देखा जाए तो डाकिया सबसे अमीर आदमी था, और सबसे गरीब भी। इसी तरह ढेर सारी धन-सम्पत्ति होने के बावजूद अन्दर से गरीब ही रहना चाहिए। हमारा आंतरिक संकल्प शुद्ध और स्पष्ट रहना चाहिए, भले ही बाह्य जगत् में हम गुरु के निर्देशों का पालन करते हुए लोक-संग्रह हेतु विभिन्न भूमिकाओं में काम करते रहें।

स्वामी शिवानन्द जी कहा करते थे कि गुरु के प्रति आज्ञाकारिता गुरु-आराधना से भी श्रेष्ठ है। वे कहते थे, 'गुरु की आराधना उनके पैर धोकर मत करो, उन्हें तिलक लगाकर और माला पहनाकर मत करो। अगर वास्तव में शिष्य रूप में तुम गुरु की आराधना करना चाहते हो तो उनकी आज्ञा का पालन करो। वही सबसे बड़ी आराधना है।'

आज्ञा का पालन तत्परतापूर्वक होना चाहिए। शिष्य को चुपचाप बैठे नहीं रहना चाहिए कि अब गुरुजी मुझको कुछ बोलेंगे। जो व्यक्ति निठल्ला बैठकर आदेश की प्रतीक्षा करता रहता है, उस व्यक्ति का मन शैतान का घर हो जाता है। और एक बार मन शैतान का घर हो गया, तब उस पर गुरु के आदेश का कोई असर नहीं पड़ता। इसलिए गुरु के आदेश के प्रति तत्परता होनी चाहिए और केवल तत्परता ही नहीं, गुरु के आदेशों और आवश्यकताओं

का पूर्वानुमान होना चाहिए। 'गुरुजी अब यह कहने वाले हैं', ऐसा अनुमान लगाकर उनके आदेश की पूर्ति पहले ही कर देनी चाहिए। उनको कहने की आवश्यकता न पड़े। इसके लिए शिष्य को सदैव सजग और पहले से तैयार रहना चाहिए। आज्ञाकारिता और तत्परता, ये दो गुण हर शिष्य के लिए गुरु के साथ एक अंतरंग सम्बन्ध जोड़ने हेतु आवश्यक हैं।

अपने लिए स्वयं जिम्मेदार बनो

गुरु के साथ उचित सम्बन्ध बनाने के लिए यह भी जरूरी है कि शिष्य यह सोचकर अपनी समस्याओं के प्रति उदासीन न रहे कि गुरु ही उन समस्याओं का समाधान करेंगे। जो शिष्य यही पूछता रहता है, 'अब क्या करूँ?' वह सबसे निम्न श्रेणी का है। भगवान ने अपना निर्णय स्वयं लेने के लिए तुम्हें पर्याप्त बुद्धि और समझ दी है। अगर गुरु के पास जाते भी हो तो अपनी समस्या लेकर नहीं, बल्कि समस्याओं का समाधान लेकर जाओ। उनसे कहो, 'स्वामीजी, मेरी यह समस्या है और मैंने ये पाँच समाधान खोजे हैं। कौन-सा सर्वोत्तम है? किसका प्रयोग करूँ?' तब गुरु कह देंगे, 'तीसरा।' तुम उस निर्देश को स्वीकार कर लेते हो और उसका पालन करते हो।

गुरु केवल तुम्हारे खुद के निर्णय का अनुमोदन कर रहे हैं, क्योंकि वे चाहते हैं कि तुम अपने जीवन के लिए खुद जिम्मेदार बनो। वे यह कभी नहीं चाहेंगे कि तुम उनसे पूछते रहो कि कब खाएँ और कब नहीं, कब स्नान करें और कब नहीं, कब जप करें और कब नहीं। गुरु अपने हर शिष्य को स्वावलम्बी देखना चाहते हैं। लेकिन स्वावलम्बन के लिए विवेक, वैराग्य, षट्-सम्पत्ति और वे सभी गुण आवश्यक हैं जिनकी हमने अब तक चर्चा की है। तुम्हें स्वयं समाधान खोजने का प्रयास करना है, तुम्हें इस बात का पूर्वानुमान करना है कि गुरु तुमसे क्या अपेक्षा रखते हैं। इसी विधि से गुरु के साथ एक अंतरंग सम्बन्ध स्थापित होता है।

धर्म पालन

गुरु की अनुपस्थिति में शिष्य को अपने धर्म का अक्षरशः पालन करना है। अगर गुरु शारीरिक रूप से उपस्थित हैं तो वे तुम्हें यह बता सकते हैं, 'तुम गलत दिशा में जा रहे हो, लौट आओ', लेकिन उनकी अनुपस्थिति में धर्म

ही तुम्हें सही मार्ग पर बनाए रखता है, कोई व्यक्ति नहीं। इस धर्म में स्थापित होने के लिए जीवन में एक अनुशासन और एक दिनचर्या होनी चाहिए।

समाज में रहने वाले गृहस्थ शिष्यों की एक निश्चित दिनचर्या होनी चाहिए। उदाहरण के लिए, सुबह उठते ही ग्यारह बार महामृत्युंजय मंत्र, ग्यारह बार गायत्री मंत्र और तीन बार दुर्गा जी के बत्तीस नामों का पाठ करना चाहिए। प्रत्येक शनिवार को महामृत्युंजय मंत्र का पाठ, प्रत्येक पूर्णिमा को सुन्दरकाण्ड का पाठ, सोने से पहले ध्यान का अभ्यास, आसन-प्राणायाम का अभ्यास, सेवा, स्वाध्याय और साधना – ये सारे अभ्यास हमारी दिनचर्या का अंग बन जाने चाहिए।

अगर हम इन अभ्यासों को अपने घरेलु जीवन का अंग बना सकें, तो आस-पास के लोग अवश्य प्रभावित होंगे। अगर परिवार के सभी लोग एक लक्ष्य और प्रयोजन को लेकर इसमें शामिल हो सकें, तो जो ऊर्जा हम अपने मंत्र-पाठ, भजन-कीर्तन और पूजा-अनुष्ठान द्वारा उत्पन्न करेंगे, वह हर एक के जीवन में शान्ति लाएगी, हर एक के जीवन में एक नयी प्रेरणा का संचार करेगी।

इसके लिए एक वातावरण तैयार करना होगा, एक अनुशासन को लाना होगा। अपने दैनिक जीवन में आध्यात्मिक अभ्यासों का समायोजन करना होगा। ऐसा नहीं कि घर में पूरी तरह सांसारिक जीवन बिताओ और आश्रम में आते ही गेरू वस्त्र पहनकर कहो, 'अब मैं आपके आदेशानुसार सब कुछ करने के लिए तत्पर हूँ, मैं कर्म संन्यासी जो हूँ।' जीवन का सुनियोजन, दिनचर्या की फाइन-ट्यूनिंग अपने घरेलू वातावरण में भी करनी होगी। तब ही एक शिष्य गृहस्थ-आश्रम में रहते हुए भी अध्यात्म पथ पर गुरु के निर्देशानुसार आगे बढ़ सकता है। अगर वह ऐसा कर पाता है, तो जीवन की सभी कामनाओं, सभी अभावों को पूरा करते हुए सुख-शान्ति प्राप्त कर सकता है। इस तरह संसार में रहते हुए भी वह अपने शिष्यत्व को सिद्ध कर सकता है।

जो शिष्य गुरु के आश्रम में रहते हैं, उनके लिए विशेष साधना होती है। जिस तरह तंत्र शास्त्र में पंच-मकार साधना है, उसी प्रकार आश्रमों में जिज्ञासु और मुमुक्षु के लिए पंच-सकार साधना का निर्देश दिया गया है। पंच-सकार में पहली साधना है समर्पण। जिस गुरु के साथ हम हैं, उनके प्रति अपने को पूर्णतया समर्पित कर देना। केवल वैचारिक समर्पण नहीं कि आज से मैंने

अपने आप को समर्पित कर दिया है, बल्कि रोज देखना चाहिए कि कल मेरे समर्पण में कहीं कोई कमी तो नहीं रह गयी जिसको मैं आज दूर कर सकता हूँ। समर्पण का अवलोकन भी रोज करना है। मन को टटोलकर एक बार देखो कि कल के कर्मों और विचारों में मेरा समर्पण पूरा था या कहीं पर उसमें कमी थी, बाधा थी।

उसके बाद है साधना। वह पुरुषार्थ जो आश्रम नियम और परम्परा के अनुसार अथवा गुरु निर्देश के अनुसार हमको करने के लिए कहा जाता है।

पंच-सकार का तीसरा अंग है सेवा, *'नाहं कर्त्ता हरि: कर्त्ता, हरि: कर्त्ता हि केवलं'* की भावना से युक्त होकर किया गया कर्म। सेवा का मतलब होता है, मैं अपने लिए नहीं, बल्कि दूसरों के हित और उत्थान के लिए कर्म कर रहा हूँ। सेवा-भाव से किये गये कर्मों द्वारा चित्त शुद्ध और पवित्र बनता है।

हमारे गुरुजी अपने ऋषिकेश जीवन की कहानी सुनाते थे कि एक बार स्वामी चिदानन्द जी और उन्होंने सड़क पर एक कुष्ठ रोगी को देखा और उसे उठाकर आश्रम में ले आये। स्वामी शिवानन्द जी ने उनसे कहा, 'यह रोगी नहीं, साक्षात् ब्रह्म है, ईश्वर है, जो इस समय पीड़ा में है। इसकी खूब अच्छे से सेवा करो।' स्वामी सत्यानन्द जी और स्वामी चिदानन्द जी रोज उस बीमार व्यक्ति की सेवा करते, उसको नहलाते, उसके घावों को पोंछते, उन पर दवाई और मलहम-पट्टी लगाते। एक दिन कोई घाव ज्यादा जोर से दब गया तो वह मरीज दर्द के मारे कराह उठा। गुस्से में आकर उसने उन्हें गाली दी कि तुम लोग कैसी सेवा करते हो और स्वामीजी पर थूक दिया।



श्री स्वामीजी तमतमा गए। क्षत्रिय जात और कोई उनके मुँह पर थूक दे, सहन नहीं हुआ। वे सीधे स्वामी शिवानन्द जी के पास गये और कहा, 'आप खुद ही सम्भालिये अपने ईश्वर को। जिसे तमीज तक नहीं है, मैं उसकी सेवा करने वाला नहीं।' स्वामी शिवानन्द जी ने शान्त स्वर में कहा, 'उसे तमीज नहीं, कोई बात नहीं। लेकिन तुम्हें तो तमीज है न। तुम अपना काम करते रहो।' ऐसा कहकर स्वामी शिवानन्द जी ने उन्हें वापस मरीज के पास भेज दिया।

श्री स्वामीजी बतलाते हैं कि स्वामी शिवानन्द जी बीच-बीच में उनको ऐसे निर्देश या संकेत दिया करते थे जिनसे उनकी आँखें खुल जाती थीं। उन्हें मालूम चल जाता था कि मैं यहाँ पर गलती कर बैठा हूँ और तुरंत उस गलती को ठीक करने के लिए वे तत्पर रहते थे। यह है सेवा।

चौथी साधना है सत्संग। शिष्य सत्संग के माध्यम से अपने विचारों और भावनाओं की फाइन-ट्यूनिंग करता है। वह नये विचारों को ग्रहण करता है, अपने आध्यात्मिक लक्ष्यों के बारे में जानकारी प्राप्त करता है। रास्ते में कहाँ-कहाँ पर अवरोध हो सकते हैं, कहाँ पर अपनी गाड़ी को धीमा करना है और कहाँ पर तेज रफ्तार से ले जाना है, इन सबकी जानकरी मिलती है। और बहुत बार जब हमारी गाड़ी पटरी से उतर जाती है तब सत्संग के द्वारा हम उसे दुबारा पटरी पर ले आते हैं।

पाँचवीं साधना है स्वाध्याय, जिसका मतलब होता है आत्म-सजगता। स्वाध्याय का मतलब पोथी पढ़ना नहीं। स्वाध्याय का मतलब स्वयं का अध्ययन, स्वयं की जानकारी प्राप्त करना। इसके लिए हमेशा सजग और सचेत द्रष्टा का भाव रखना पड़ता है। और योग का यह मूल सूत्र भी है कि द्रष्टा भाव को अपनाकर तुम भोगी से योगी बनो। भोगी द्रष्टा नहीं, भोक्ता होता है। लेकिन जो योगी होता है, वह भोक्ता नहीं, द्रष्टा होता है। वह निरंतर देखता है। जैसे इस मंच पर बैठकर मैं सब को देख सकता हूँ, कौन हिल रहा है, कौन झूल रहा है, कौन अकड़कर बैठा है, कौन सो रहा है, कौन झपकी ले रहा है, कौन दीवार से सटकर बैठा है। इसको कहते हैं द्रष्टा, देखने वाला। स्वाध्याय में स्वयं का द्रष्टा बनना पड़ता है, स्वयं से प्रश्न करना पड़ता है, 'इस विषय को मैंने समझा या नहीं, मेरा व्यवहार उचित था या अनुचित, उसमें कहाँ पर दोष है, मैंने कहाँ पर गलती की है?' इस प्रकार अपने आप को देखकर अपनी गलतियों को ठीक करना पड़ता है।

ये पंच-सकार–समर्पण, साधना, सेवा, स्वाध्याय और सत्संग, आश्रम में रहने वाले शिष्य की साधना बनते हैं। मैं यहाँ पर संन्यासी और गृहस्थ शिष्य में अन्तर नहीं कर रहा हूँ। आश्रम में रहने वाले शिष्य की बात बोल रहा हूँ, चाहे वह कोई भी हो, चाहे जिस रंग का भी वस्त्र पहनता हो। ये नियम सभी पर लागू होते हैं। हाँ, जब संन्यासियों की बात करूँगा, तब फिर उनके लिए संन्यास धर्म अलग है। मैं यहाँ पर केवल शिष्य धर्म की बात कर रहा हूँ।

अपने शिष्यों के प्रति स्वामी शिवानन्द जी के उद्‌गार

स्वामी शिवानन्द जी ने अपने लेखों में एक जगह अपने शिष्यों के बारे में कहा है, जो मुझे एक अनुपम विवरण लगता है। सामान्यतया चेले गुरु की स्तुति करते हैं, लेकिन यहाँ स्वामी शिवानन्द जी अपने शिष्यों की प्रशंसा कर रहे हैं, उनके प्रयासों और उपलब्धियों का गुणगान कर रहे हैं और यह उद्धरण सचमुच बहुत प्रेरणास्पद है। शिष्यों की प्रशंसा इस बात को दर्शाती है कि स्वामी शिवानन्द जी के शिष्यों ने शिष्यत्व की कला में पूर्णता प्राप्त कर ली थी। स्वामी सत्यानन्द जी के भी ऐसे शिष्य हुए हैं जिन्होंने शिष्यत्व को सिद्ध किया है। जो शिष्यत्व को सिद्ध कर लेते हैं, वे अपने गुरु की शक्ति के ट्रांसमीटर बन जाते हैं।



स्वामी शिवानन्द जी का अपने शिष्यों के बारे में यह कहना है–

'मेरा शिष्य उत्तम गुणों से युक्त है। वह भद्र, सभ्य और कोमल है। वह अपार करुणा से युक्त है, वह कभी किसी के सामने हाथ नहीं पसारता। वह केवल देना जानता है। उसका हृदय विशाल है। वह सभी के साथ हिल-मिल कर रहता है और सभी से प्रेम करता है। वह हमेशा ईश्वराभिमुख होता है, चलते-फिरते वह ईश्वर का स्मरण और कीर्तन करता रहता है। वह आसन, प्राणायाम, जप और ध्यान का अभ्यास करता है। वह सेवा में अत्यंत निपुण है। वह समग्र-योग का अभ्यास करता है। उसके विचार उसके वश में रहते हैं।'

अब कौन गुरु यह कह सकता है कि उसके शिष्य मनोनियंत्रण में सक्षम हैं? केवल स्वामी शिवानन्द जी। और उनके शिष्यों का स्तर इतना ऊँचा था कि वास्तव में उनमें यह क्षमता थी। स्वामी शिवानन्द जी आगे कहते हैं–

'वह एक व्यावहारिक वेदान्ती है। वह खाना भी बना सकता है, प्रूफ भी पढ़ सकता है, टाइपिंग भी कर सकता है, नर्सिंग भी कर सकता है, प्रवचन भी दे सकता है, लेखक भी है, कक्षा भी ले सकता है, आध्यात्मिक शिक्षा का प्रचार भी करता है। फिर भी सहज, सरल और विनम्र है। वह गरीबों की प्रेम से सेवा करता है। सभी धर्मों के प्रति उसकी निष्ठा और आस्था है, वह सभी का सम्मान करता है। कम बोलता है, लेकिन हमेशा क्रियाशील और कार्यरत रहता है। कर्म उसके लिए उपासना है और सेवा की भावना उसमें कूट-कूटकर भरी है। वह भक्त है, वह योगी है, वह ज्ञानी है।'

मानव इतिहास में किसी गुरु की अपने शिष्यों के प्रति यह प्रथम प्रशस्ति, पहली श्रद्धांजलि है। इससे हमें पता चलता है कि श्री स्वामीजी में जो संकल्पशक्ति, श्रद्धा, विश्वास, गुरु-भक्ति और समर्पण का भाव हमने देखा है, वह शिष्यत्व को सिद्ध कर लेने का परिणाम है। उनका लक्ष्य और साधना हमेशा एक ही थी– शिष्यत्व को सिद्ध करना, और उन्होंने कभी किसी बाहरी प्रभाव को अपने मार्ग का अवरोध नहीं बनने दिया।

सर्वोच्च साधना

शिष्य धर्म का पालन करना, उसे सिद्ध करना, यही सर्वोच्च साधना है। आसन-प्राणायाम, जप-ध्यान, क्रिया-कुण्डलिनी योग सीखना आसान है, कुण्डलिनी को जगाना भी सरल है। लेकिन शिष्य धर्म को निभाना और शिष्य का जीवन जीना बहुत कठिन है।

मैंने बहुत-से स्थानों की यात्रा की है और अनेक ऐसे लोगों से मिला भी हूँ जो अपने आपको गुरु मानते हैं। उन तथाकथित गुरुओं के लिए शिष्यत्व गुरुत्व की मंजिल तक पहुँचने के लिए, गुरु पद पर आसीन होने के लिए एक साधन मात्र था। ऐसे लोग दिग्भ्रमित हैं, क्योंकि गुरुत्व नाम की कोई चीज नहीं होती। केवल शिष्यत्व होता है और शिष्यत्व में उत्तरोत्तर वृद्धि होती है। तुम जितने अच्छे शिष्य बनते हो, उतने ही अच्छे ट्रांसमिटर भी बनते हो, और चूँकि तुम एक अच्छे ट्रांसमिटर बन गए हो, इसलिए तुम गुरु भी बनते हो।

शिष्य गुरु की शक्ति का ट्रांसमिटर, गुरु की ऊर्जा का संचारक होता है। विद्युत शक्ति के संचार के लिए यह जरूरी है कि बिजली की तार कार्बन से मुक्त रहे। अगर तारों पर कार्बन जमा रहेगा तो बत्तियाँ नहीं जलेंगी। इसी प्रकार शिष्यत्व का प्रयोजन हमारी तारों पर जमे कार्बन को हटाकर उन्हें साफ रखना है, ताकि हमारे जीवन में दैवी कृपा का प्रवाह सतत् और निर्विघ्न रूप से होता रहे, और संक्षेप में यही शिष्य धर्म है।



नोट

नोट

नोट



स्वामी निरंजनानन्द का जन्म छत्तीसगढ़ के राजनाँदगाँव में सन् 1960 में हुआ। जन्म से ही उनकी जीवन-दिशा उनके गुरु, स्वामी सत्यानन्द सरस्वती द्वारा निर्देशित रही। चार वर्ष की अवस्था में वे गुरु-सान्निध्य में रहने बिहार योग विद्यालय आये, जहाँ उनके गुरु ने योग निद्रा के माध्यम से उन्हें योग एवं अध्यात्म का गहन प्रशिक्षण प्रदान किया। सन् 1971 में वे दशनामी संन्यास परम्परा में दीक्षित हुए, तत्पश्चात् 11 वर्षों तक विभिन्न देशों की यात्राएँ कर उन्होंने अनेक कलाओं में दक्षता अर्जित की और विभिन्न संस्कृतियों के सम्पर्क में रहकर उनकी गहरी समझ प्राप्त की तथा यूरोप, ऑस्ट्रेलिया, उत्तर एवं दक्षिण अमरीका में अनेक सत्यानन्द योग केन्द्रों एवं आश्रमों की स्थापना की।

सन् 1983 में गुरु-आज्ञानुसार भारत लौटकर वे बिहार योग विद्यालय, शिवानन्द मठ तथा योग शोध संस्थान की गतिविधियों के संचालन में संलग्न हो गए। सन् 1990 में वे परमहंस-परम्परा में दीक्षित हुए और 1995 में स्वामी सत्यानन्द के उत्तराधिकारी के रूप में उनका अभिषेक किया गया। सन् 1994 में उन्होंने विश्व के प्रथम योग विश्वविद्यालय, बिहार योग भारती की तथा 2000 में योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट की स्थापना की। सन् 1995 में उन्होंने बच्चों के एक बृहत् योग आन्दोलन, बाल योग मित्र मण्डल का शुभारम्भ किया। मुंगेर में विभिन्न गतिविधियों का संचालन करने के अलावा उन्होंने दुनियाभर के साधकों का मार्गदर्शन करने हेतु व्यापक रूप से यात्राएँ कीं। सन् 2009 में उन्हें अपने गुरु से संन्यास जीवन का एक नया अध्याय शुरू करने का आदेश प्राप्त हुआ।

स्वामी निरंजनानन्द योग दर्शन, अभ्यास एवं जीवनशैली की गहन जानकारी और समझ रखते हैं तथा योग, तंत्र एवं उपनिषदों पर अनेक प्रमाणिक पुस्तकों के प्रणेता भी हैं। प्राचीन तथा अर्वाचीन परम्पराओं का सुन्दर सम्मिश्रण करते हुए वे इस समय मुंगेर में अपने गुरु के मिशन को आगे बढ़ाने के कार्य में संलग्न हैं।



'शिष्य गुरु की शक्ति का ट्रांसमिटर, गुरु की ऊर्जा का संचारक होता है। विद्युत शक्ति के संचार के लिए यह जरूरी है कि बिजली की तार कार्बन से मुक्त रहे। अगर तारों पर कार्बन जमा रहेगा तो बत्तियाँ नहीं जलेंगी। इसी प्रकार शिष्यत्व का प्रयोजन हमारी तारों पर जमे कार्बन को हटाकर उन्हें साफ रखना है, ताकि हमारे जीवन में दैवी कृपा का प्रवाह सतत् और निर्विघ्न रूप से होता रहे, और संक्षेप में यही शिष्य धर्म है।'

सन् 2009 से स्वामी निरंजनानन्द सरस्वती के जीवन का एक नया अध्याय प्रारम्भ हुआ है और मुंगेर में योगदृष्टि सत्संग शृंखला के अन्तर्गत योग के विभिन्न पक्षों पर दिये गये प्रबोधक व्याख्यान स्वामीजी की इसी नयी जीवनशैली के अंग हैं।

रिखियापीठ में मनाये गये गुरु पूर्णिमा महोत्सव से लौटने के बाद स्वामीजी ने 'शिष्य धर्म' को अपने अगले सत्संग कार्यक्रम का विषय चुना। अगस्त 2010 में गंगा दर्शन में दिये गये इन सत्संगों में स्वामीजी ने गुरु तत्त्व के निरूपण से प्रारम्भ कर शिष्यत्व के विभिन्न आयामों पर प्रकाश डाला है। उनके सारगर्भित शब्द हमें अपने भीतर झाँककर यह जाँचने के लिए मजबूर करते हैं कि शिष्यत्व की कसौटी पर हम कितने खरे उतरते हैं, हमारे व्यक्तित्व में कौन-सी क्षमताएँ और कौन-सी कमियाँ हैं, और कैसे हम एक आदर्श शिष्य के गुणों और योग्यताओं का अर्जन कर अपना उत्थान कर सकते हैं। गुरु-शिष्य परम्परा का निर्वहन करने वाले साधक के लिए उच्चतम आदर्श क्या है–आध्यात्मिक मार्ग के सच्चे पथिकों के लिए यह एक आधारभूत प्रश्न रहा है, जिसका उत्तर इन सत्संगों में निहित है।



ISBN :978-81-86336-96-0